POLITICAL IDEAS AND INSTITUTIONS IN MANU AND HIS COMMENTATORS

(मनु तथा उनके भाष्यकारों में राजनीतिक विचार और संस्थाये)

A

THESIS

SUBMITTED FOR THE DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

OF

UNIVERSITY OF ALLAHABAD

By

KRISHNA CHANDRA SRIVASTAVA

Under the Supervision of

Prof. *OM PRAKASH*

Department of Ancient History, Culture & Archaeology

University of Allahabad

Allahabad

INDIA

1996

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाओं पर शोध कार्यों की एक लम्बी परम्परा है। किन्तु अधिकांश कार्य जो इस क्षेत्र में हुए हैं धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के मूल ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली सामग्री के कालसापेक्ष्य विचार पर केन्द्रित रहे हैं। टीकाओं और भाष्यों का उपयोग अधिकांशत: मौलिक रचनाओं को समझने के लिये या टीकाकार के समय के दृष्टिकोण को स्थान-स्थान पर प्रतिबिम्बित करने के लिये ही हुआ है। किसी ग्रंथ विशेष के टीकाकार के संदर्भ में, जो विभिन्न कालों और क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस ग्रन्थ की मूल प्रतिष्ठाओं को विवेचित करने का प्रयास नहीं किया गया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध इस कमी को पूरा करने का एक विनम्र प्रयास है। यद्यपि इस अध्ययन का मुख्य विषय मनुस्मृति है तथापि समय-समय पर लिखे गये भाष्यों अथवा टीकाओं को भी विषय की परिधि के अन्तर्गत समाहित किया गया है।

मनुस्मृति, धर्मशास्त्र परम्परा का एक ग्रन्थ है जिसका अपना एक समसामयिक संदर्भ था- शास्त्रीय परम्परा में भी तथा यथार्थ की सामाजार्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में भी। इस संदर्भ तथा मनु की मूल प्रतिष्ठापनाओं का उपबृंहण टीकाकारों एवं भाष्यकारों ने अपने समय के वैचारिक संस्थापना तथा यथार्थिक परिप्रेक्ष्य में किया है। मनुस्मृति की प्रसिद्धि तथा विद्वत्समाज पर उसके व्यापक प्रभाव का ज्ञान इसी तथ्य से हो जाता है कि आठवीं से लेकर सोलहवीं शती तक इस पर कई विद्वानों ने

टीकायें प्रस्तुत की। भारुचि, मनु के प्राचीनतम टीकाकार हैं जिनकी खोज डीरेट ने की तथा उनके भाष्य का समय छठीं-सातवीं शती निर्धारित किया। बाद के टीकाकारों में मेधातिथि ﴾805-900﴿, गोविन्दराज ﴾1050-1100ई﴿ कुल्लूक भट्ट ﴾1150-1300 ई0﴿, सर्वज्ञनारायण ﴾1400 ई0﴿, मणिराम ﴾1630 ई0﴿, रामचन्द्र ﴾समय अज्ञात﴿ तथा नन्दन ﴾संभवत: 18वीं शती﴿ के नाम उल्लेखनीय है। टीकाकार स्मृति ग्रन्थ की पवित्रता में विश्वास करते हैं तथा उसमें विहित धर्म को शाश्वत मानते हैं। स्मृति को वेदों के लगभग समकक्ष माना गया है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध की स्थिति में टीकाकारों द्वारा प्रथम को ही अनुकरणीय बताया गया है, जबकि अर्थशास्त्र परम्परा धर्मन्याय को ही धर्मशास्त्र से श्रेष्ठतर घोषित करती है क्योंकि हस्तान्तरण में शास्त्र का मौलिक पाठ सुरक्षित नहीं रह जाता है ﴾तत्र पाठो हि नश्यति﴿।

प्रस्तुत प्रबन्ध में बारहवी-तेरहवीं शती तक के प्रमुख टीकाकारों, जैसे भारुचि, मेधातिथि, गोविन्दराज एवं कुल्लूक भट्ट की टीकाओं का ही उपयोग किया गया है। इसका मुख्य कारण स्रोत सामग्री का गहन विवेचन एवं आलोचनात्मक विश्लेषण रहा है, यद्यपि कालान्तर की टीकाओं को भी विषय के स्पष्टीकरण एवं तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यत्र-तत्र उपयोग में लाया गया है। साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त विदेशी विवरणों एवं समसामयिक अभिलेखिक साक्ष्यों से भी संदर्भ दिये गये हैं जो विषय के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ व्यवहारिक पक्ष को भी उजागर करते हैं तथा

उसे वस्तुनिष्ठ बनाने में सहायक हैं। राजनीतिक विचार एवं संस्थाओं से संबंधित मूलत: दो प्रकार के प्रश्न उठाये गये हैं- प्रथमत: वे जिन्हें परम्परागत रूप से अन्य विद्वानों ने भी उठाया है और अपने ढंग से उनका समाधान प्रस्तुत किया है तथा द्वितीयत: कतिपय नवीन प्रश्नों की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए उनका आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने तथा उन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकारों ने मनु के विचारों को अपने समय के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है और इसी कारण उनमें कुछ विभिन्नतायें भी परिलक्षित होती हैं। राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं के विवेचन में सामाजार्थिक पहलुओं को भी निष्कर्ष का आधार बनाया गया है क्योंकि उनकी भी राजनीतिक संस्थाओं की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम के अन्तर्गत आदिम प्राकृत अवस्था का विवेचन, मनुष्य के स्वभाव राज्य की आवश्यकता का विवेचन किया गया है। यह प्रदर्शित करने का प्रयास हुआ है कि मनुस्मृति सहित समस्त भारतीय साहित्य में अराजक अथवा मात्स्यन्याय शब्द का प्रयोग युद्ध, अव्यवस्था एवं अस्तव्यस्तता की स्थिति को सूचित करने के लिये किया गया है। मनुष्य प्रकृत्या नैतिक एवं सर्वगुणसम्पन्न है तथा अराजक या मात्स्यन्याय उसके स्वभाव की एक ऐसी अप्रिय प्रवृत्ति है जो बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न होती है और इसी को नियंत्रित करने के लिये राज्य अथवा राजा की अनिवार्यता है। दूसरा अध्याय राज्य के स्वरूप तथा उसके प्रकारों का विवेचन करता है। यह दर्शाया गया है कि मनु, उनके टीकाकार अथवा कोई भी भारतीय विचारक राज्य या राजा को अनिवार्य

अनिष्ट नहीं मानते, सप्तांग सिद्धान्त राज्य की आन्तरिक प्रकृति का द्योतक न होकर बाह्य समानता मात्र है तथा भारतीय विचारकों ने राजतंत्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन प्रकार माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में इसी के द्वारा सार्वजनिक कल्याण सुनिश्चित किया जा सकता है। तीसरा अध्याय राजा तथा उसके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का विवेचन है। यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सभी अधिकार और सुविधाओं से सम्पन्न होकर राजा के निरंकुश होने की संभावना के बावजूद मनु तथा अन्य शास्त्रकारों द्वारा उसकी निरंकुशता को अपवारित करने की चेष्टा की गयी है क्योंकि यहाँ राजपद ही दैवी था, इसका धारक व्यक्ति विशेष नहीं। चतुर्थ अध्याय प्रशासनिक व्यवस्था से संबंधित है। इसमें मनु एवं उनके टीकाकारों के दृष्टिकोण, अन्य समसामयिक, पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्त्ती संदर्भों से उनकी संगति तथा सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में शासनादर्श एवं संस्थाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। मनु के प्रशासन का लक्ष्य त्रिवर्ग की प्राप्ति है। इस संबंध में वे अर्थशास्त्र परम्परा का अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं। पाँचवाँ अध्याय राजस्वव्यवस्था से संबंधित है। इसमें विविध प्रकार के करों की प्राचीनता एवं मनु तथा उनके टीकाकारों के समय की स्थिति, कराधान प्रणाली, कर-संग्रह के आदर्श आदि का विवेचन है।

छठां अध्याय पुलिस तथा गुप्तचरों से संबंधित है। इसमें आन्तरिक तथा बाह्य क्षेत्रों में गुप्तचरों के महत्त्व एवं उनके कार्यों का विवरण दिया गया है। सातवें अध्याय के अन्तर्गत युद्ध के नियम, सैन्याभियान के उद्देश्य, दुर्ग-विधान, राजा की विजगीषु नीति आदि का वर्णन हुआ है। आठवाँ

अध्याय विधि तथा न्याय से संबंधित है। इसमें विधि के स्रोत, धर्मशास्त्र परम्परा का महत्त्व, न्याय का उद्देश्य एवं विविध प्रकार के दण्डों का विवेचन किया गया है। अन्तिम अध्याय अन्तर्राज्य संबंध का विवेचन करता है जिसमें मण्डल-सिद्धान्त, षड्गुण का महत्व, चतुरुपाय, राजदूत की नियुक्ति तथा उसके कार्य आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध का प्रणयन गुरुवर्य प्रो० (डा०) ओमप्रकाश के कुशल निर्देशन में हुआ है। इसे सम्पन्न कराने में उन्होने अपने अतिव्यस्त कार्यक्रमों में से समय निकाल कर जो आत्मीय सहयोग एवं सहायता प्रदान किया है उसके लिये मैं उनके प्रति अपनीमहती श्रद्धा एवं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। सुहृद्वर डा० रामप्रसाद त्रिपाठी (रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने न केवल कुछ दुर्लभ संदर्भों को सुलभ कराया अपितु समय-समय पर बहुमुल्य सुझावों द्वारा अनेकशः लाभान्वित भी किया है जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। मैं अपने मित्रों एवं शुभेच्छुओं- सर्वश्री ओमप्रकाश श्रीवास्तव (रीडर प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) डा० विमलचन्द्र शुक्ल (रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, ई०सी०सी०) तथा प्राचीन इतिहास विभाग, सी०एम०पी० डिग्रीकालेज के विभागीय मित्रों एवं सहयोगियों- डा० आर०सी० मिश्र, डा० मंजुल भटनागर, डा० ए०एल० श्रीवास्तव, डा० राकेश कुमार एवं श्रीमती अर्चना श्रीवास्तव के प्रति भीआभार प्रकट करता हूँ जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सहयोग के फलस्वरूप इस शोध-प्रबन्ध का प्रस्तुतीकरण संभव हो सका है।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

प्राकृत अवस्था तथा राज्य की उत्पत्ति.

प्राकृत अवस्था तथा राज्य की उत्पत्ति

राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के पूर्व परम्परागत प्राकृत अवस्था पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है जो राजनीतिक संस्थाओं के उदय के पूर्व समाज में विद्यमान मानी गयी है। भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर हम "अराजक" तथा "मात्स्यान्याय" जैसे शब्दों का उल्लेख पाते हैं। "अराजक" के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। के0पी0 जायसवाल इसे आदर्श अवस्था मानते है। यह ऐसी स्थिति है जिसमें कोई व्यक्ति राजा नहीं रहता अपितु कानून को शासक माना जाता है। इसका आधार लोगों के बीच आपसी इकरार अथवा सहमति है। इसमें किसी प्रकार की असमानता नहीं रहती तथा प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिकतम विकास करने के लिये स्वतंत्र होता है। यह पूर्ण जनतंत्र है।[1] स्पष्टत: जायसवाल अराजक को जिस अर्थ में आदर्श स्थिति कहते हैं वह राज्य के अभाव की स्थिति है। यह वही अवस्था है जिसे महाभारत, पुराण तथा बौद्ध साहित्य में "कृतयुग" कहा गया है। महाभारत में वर्णन मिलता है कि "कृतयुग" में राज्य, राजा, दण्ड अथवा न्यायाधीश की कोई आवश्यकता नहीं थी। लोग धर्म द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे। धर्म द्वारा रक्षित वे बहुत समय तक रहते रहे" तथा बाद में किसी प्रकार अध:पतन प्रारम्भ हो गया।[2] पुराणों में कृतयुगीन प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करते हुए बताया गया है कि-

उस समय पूर्ण समानता का राज्य था। धर्म तथा अधर्म कुछ भी नहीं था, न ही मनुष्यों में किसी प्रकार का भेद था। सभी समान आयु, समान रूप तथा समान आनन्द का उपभोग करते थे। किसी में कोई भेद अथवा कलह नहीं था। मनुष्य पूर्णतया संतुष्ट था, सत्व सम्पन्न था तथा उसे कोई कष्ट नहीं था। पृथ्वी द्वारा प्रदत्त अमृत से उन सभी की क्षुधापूर्ति हो जाती थी और इसके लिये उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता था। महाभारत तथा पुराणों की कृतयुगीन अवस्था में मूल अन्तर यह है कि पहला जहाँ धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है दूसरे में इसका भी निषेध मिलता है। दीघनिकाय का विवरण भी बहुत कुछ महाभारत के समान है जहां बताया गया है कि बहुत पहले स्वर्ण युग था जिसमें दिव्य और प्रकाशमान शरीर वाले मनुष्य धर्म से आनन्दपूर्वक रहते थे।[3] मनुस्मृति में भी बताया गया है कि कृतयुग में सब धर्म तथा सत्य चतुष्पाद अर्थात् सब प्रकार से स्थिर था तथा अधर्म के द्वारा किसी को विद्या या धन आदि की प्राप्ति नहीं होती थी। मनुष्य निरोग, सभी सिद्धियों और अर्थों से युक्त तथा चार सौ वर्ष की आयु वाले होते थे।[4] पी0वी0 काणे जैसे विद्वान् जायसवाल द्वारा कल्पित "अराजक" की परिभाषा से सहमत नहीं हैं।[5] उनकी मान्यता है कि यह संस्कृत साहित्य में अनेकशः वर्णित अराजक की स्थिति से मेल नहीं खाती। प्रायः सभी विवरण इसे पूर्ण अराजकता एवं अव्यवस्था का युग निरूपित करते हैं जिसमें शक्ति और

संघर्ष की प्रधानता रहती है। यही मात्स्यन्याय की स्थिति है। जिस प्रकार तालाब में बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है उसी प्रकार बलवान मनुष्य निर्बलों को निगल जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह अवस्था "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत को चरितार्थ करती है। रामायण, महाभारत, कामन्दकनीतिसार, मत्स्यपुराण, अर्थशास्त्र आदि सभी में अराजक का यही विवरण मिलता है।[6] हिन्दू विचारकों के अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन लेखक भी अराजक का यही विवरण प्रस्तुत करते हैं। जातक कथाओं में विवरण मिलता है कि "राजा विहीन राज्य कभी टिक नहीं सकता[7]।" जैन ग्रन्थ आचारांग सूत्र में वर्णन मिलता है कि भिक्षु को राजाविहीन राज्य में नहीं जाना चाहिए क्योंकि बर्बर लोग वहाँ उनपर आक्रमण कर सकते है या उत्पीड़ित कर सकते हैं।[8] साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन अभिलेखों में भी मात्स्यन्याय का यही विवरण प्राप्त होता है। खालीमपुर लेख॒ 9वीं शताब्दी॒ में कहा गया है कि गोपाल ने लोगों को मात्स्यन्याय की स्थिति से त्राण दिलाया।[9] इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य तथा लेखों में अराजक तथा मात्स्यन्याय का प्रयोग समान अर्थ में किया गया है और दोनों से तात्पर्य पूर्ण विधि-विहीनता एवं अव्यवस्था की स्थिति से है।

मनु जिस अराजक स्थिति की ओर संकेत करते हैं वह मात्स्यन्याय से ही मिलती-जुलती है। यहां हम मात्र एक बार अराजक का उल्लेख पाते हैं जहां बताया गया है कि राजा के अभाव में सभी प्राणी भय से

सभी दिशाओं में भागते हैं।[10] भारुचि, मेधातिथि, गोविन्दराज तथा कुल्लूकभट्ट जैसे भाष्यकारों के अनुसार यह वह अवस्था है जिसमें बलवान निर्बलों का उत्पीड़न करते हैंतथा उनका सर्वस्व हरण कर लेते हैं। वस्तुत: यही मात्स्यन्याय की स्थिति भी है। मनु इसे अत्यन्त निराशाजनक बताते हैं। एक स्थान पर दण्ड का समीकरण राजा अथवा राज्य से करते हुए उसके विकल्प रूप में अराजक को प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार -

"यदि राजा आलस्यरहित होकर अपराधियों में दण्ड का प्रयोग नहीं करता तो बलवान, दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगते , जैसे मछलियों को लोहे की छड़ से छेदकर पकाते हैं। कौआ पुरोडास {यज्ञान्न} को खाने लगता, कुत्ता हविष्यान्न को चाटने लगता किसी पर किसी का प्रभुत्व नहीं रह जाता। बलवान दुर्बल की सम्पत्ति छीन कर स्वयं मालिक बन बैठता तथा नीच लोग ही बड़े बनने लगते ।"[11]

इस प्रकार मनु के अराजक से तात्पर्य पूर्ण अव्यवस्था की स्थिति से है। यह हाब्स की प्राकृत अवस्था के समान है जिसमें युद्ध तथा आक्रमण की प्रधानता होती है। "प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार आचरण करता है तथा दूसरे को अपना प्रतिद्वन्दी मानता है। हर एक को दूसरे से भय रहता है। मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी तथा पाशविक होता है। जब तक कोई सर्वोच्च सत्ता इसे शान्ति से रहने को बाध्य नहीं करती वे आपस में एक दूसरे को नष्ट करने की चेष्टा में लगे रहेंगे। उनमें परस्पर मैत्री-पूर्ण संबंध संभव नहीं है।" मनु भी राजशक्ति की अनिवार्यता को स्वीकार

करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में पवित्र मनुष्य की प्राप्ति कठिन है। दण्ड के भय से सम्पूर्ण जगत् भोग करने में समर्थ होता है।[12] कहा गया है कि दण्ड के कारण ही सबके जीवन, सम्पत्ति तथा धर्म की सुरक्षा है तथा दण्ड के कारण ही सब अपना काम ठीक से कर दूसरों को लाभ पहुंचाते हैं। यहां तक कि राजा को भी दण्ड ही नियंत्रित करता है।"[13] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मनुष्य को प्रकृत्या बुरा या दुष्ट मानते हैं। वे मात्र शुद्ध मनुष्य की प्राप्ति में कठिनाई की बात करते हैं तथा उनकी विचारधारा में मनुष्य के प्रकृत्या दुष्ट होने का भाव कदापि निहित नहीं है। अपितु तात्पर्य यह है कि मनुष्य के स्वभाव में गुण और दोष दोनों ही होते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे हैं जिनमें सद्गुण अधिक है जबकि कुछ मनुष्यों में दुर्गुण ही अधिक होते हैं। इस विचार को त्रिगुण सिद्धान्त के अन्तर्गत वर्णित किया गया है। बताया गया है कि कुछ मनुष्य तो सतोगुणी हैं, कुछ रजोगुणी तथा कुछ तमोगुणी। "आत्मा (महान्) के सत्व, रज तथा तम, ये तीन गुण हैं जिनसे युक्त यह महान् (आत्मा) सम्पूर्ण (चराचर) में व्याप्त होकर स्थित है। इन गुणों में से जो गुण सबसे अधिक होता है वह गुण उस देहधारी को गुण की अधिकता से युक्त कर देता है। सत्व को ज्ञान, तम को अज्ञान तथा रज को राग-द्वेष कहा गया है। सभी प्राणियों का आश्रित शरीर इन गुणों पर आश्रित है।"[14] यह भी बताया गया है कि काल तथा देश के अनुसार भी कभी और कहीं सद्गुणी या दुर्गुणी व्यक्तियों की अधिकता हो जाती है। जैसे कृतयुग में

सद्गुणी और कलियुग में दुर्गुणी व्यक्ति होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मावर्त के लोग सदाचारी तथा ब्रह्मर्षि देश के लोग उत्तमचरित्र वाले बताये गये हैं। मनुस्मृति की स्पष्ट मान्यता है कि सभी कालों तथा देशों में अच्छे मनुष्य होते हैं- तभी तो राज्य या राजा का यह उद्देश्य अनेकश: वर्णित है कि "उसे सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों का दमन करना चाहिए।"[15] यह इसी विचार को पुष्ट करता है कि सभी स्थानों में कुछ न कुछ सज्जन व्यक्ति अवश्य ही हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मनु बुरे व्यक्तियों का अन्न खाने, उनसे दान ग्रहण करने तथा बुरे ब्राह्मणों को श्राद्ध में आमंत्रित किये जाने का निषेध करते हैं। इसका अर्थ यह है कि कुछ ऐसे व्यक्ति भी है जिनका अन्न खाया जा सके, दान ग्रहण किया जा सके तथा जिन्हें श्राद्ध में आमंत्रित किया जा सके। यह भी कहा गया है कि "शुद्ध बुद्धिमान् स्थिरमति, न्यायपूर्वक धन संग्रह करने वाले तथा सुपरीक्षित मंत्री नियुक्त किये जाने चाहिए " तथा धर्मज्ञ, कृतज्ञ एवं तुष्ट प्रकृतिवाला मित्र ही श्रेष्ठ होता है। किन्तु इसका अर्थ कदापि नहीं है कि ऐसे कर्मचारी या मित्र मिल ही नहीं सकते। मनुस्मृति की तो यह धारणा है कि सद्गुणों के विकास से मनुष्य को श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। यह धारणा कभी नहीं है वि बिना दण्ड के भय से कोई सुधार नहीं हो सकता। इसके विपरीत निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को सही ढंग से संस्कारित और संयमित करने के बाद भी कुछ दुष्ट प्रकृति के लोग ऐसे रह जाते हैं जिन्हें केवल बल-पूर्वक ही नियंत्रित किया जा सकता है। यदि ऐसा न किया गया तो

इनके छल-बल से समाज भयभीत हो जायेगा और सामान्य व्यक्ति भी अपने सुख के लिये इन्हीं का अनुकरण करने लगेगा । फलस्वरूप चतुर्दिक अराजकता फैल जायेगी। इसी दृष्टि से राजदण्ड की अनिवार्यता है। कृतयुग में मनुष्य की अच्छाई की घोषणा उसके प्रकृत्या अच्छे माने जाने का ही प्रमाण है। बुराई तो परिस्थितियों और परिवर्तनों का परिणाम होती है। राज्य जब बुराई को नियंत्रित कर देता है तो उसकी स्वा - भाविक अच्छाई उभर आती है। अच्छाई का स्रोत मनुष्य स्वयं है, राज्य नहीं।

मनु के टीकाकारों मेधातिथि,[16] गोविन्दराज[17] तथा कुल्लूक[18] सभी इसी मत को व्यक्त करते हैं कि मनुष्य स्वभावत: बुरा नहीं होता है अपितु भले व्यक्ति की पहचान करना ही कठिन कार्य है। प्रकृत्या शुद्ध मनुष्य यदि सन्मार्ग से च्युत हो गया है तो दण्ड द्वारा नियमित कर उसे सही मार्ग पर लाया जा सकता है। भारुचि इस विवरण को दण्ड की स्तुति मात्र मानते हैं।[19]

भारतीय विचारकों के समान मनु भी कर्म की महत्ता को प्रति-पादित करते हैं जिसके अनुसार मनुष्य का स्वभाव उसके भले या बुरे कर्मों से ही निर्धारित होता है। कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक स्तर पर रहते हैं। जिसप्रकार के अच्छे या बुरे भावों से मनुष्य जिन-जिन भले या बुरे कर्मों का सेवन करता है वह वैसे शरीर से उन-उन कर्म फलों को प्राप्त करता है।[20] मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार भावी शरीर उसी तन्तु से प्रभावित होता है जिसके प्रभाव से

कोई कार्य किया जाता है। मेधातिथि उदाहरण देते हुए कहते हैं कि "यदि मनुष्य सात्विक भाव से कार्य करता है तो उसमें अच्छाई की प्रवृत्ति आती है तथा भविष्य जन्म में उसे वही फल प्राप्त होता है।" यह भी उल्लेखनीय है कि कर्म परिस्थिति जन्य होते हैं। प्रकृत्या भला मनुष्य उनके दबाव से च्युत होकर बुरे कार्य करता है अन्यथा अच्छे कर्म तो स्वभावजन्य होते ही हैं। मनुष्य का स्वभाव तो एक ही होता है। वह विभिन्न अवस्थाओं में अक्रिय या सक्रिय हो सकता है तथा उसका वास्तविक व्यवहार तदनुसार प्रभावित हो सकता है। मानव स्वभाव की अच्छाई में मनु ने कृतयुग में अपनी आस्था के माध्यम से विश्वास व्यक्त किया है। मानव स्वभाव की अच्छाई में मनु तथा सम्पूर्ण भारतीय परम्परा के विश्वास का एक यह भी प्रमाण है कि यहाँ किसी मूल पातक की अवधारणा नहीं है जिससे पूरी मानव जाति कलंकित हो तथा जिससे उद्धार का एकमात्र मार्ग दैवी अनुग्रह हो। मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है अपने स्वभाव के अनुरूप अपनी विराटता स्थापित करने के लिये और उसके विपरीत अपनी दानवता का अनुसरण करने के लिये-- परिस्थितियों का योगदान भी हो सकता है लेकिन वे पूर्णतया निर्धारक तत्त्व नहीं है। इस प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई में भारतीय परम्परा को कभी कोई संदेह नहीं रहा। अत: मनु जिस "अराजक" की ओर संकेत करते हैं वह आदिम प्राकृत अवस्था का सूचक नहीं है। आदिम प्राकृत अवस्था तो कृतयुग ही है तथा अराजक उसकी विकृतिमात्र है।

राज्य की उत्पत्ति-

चूंकि मनुस्मृति में राज्य तथा राजा के बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया है, अतः राज्य की उत्पत्ति पर विचार करते समय राजा की उत्पत्ति पर विचार करना अपरिहार्य है। उल्लेखनीय है कि अन्य भारतीय विचारकों की भाँति मनु राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के लिये अराजक प्राकृत अवस्था का पूर्वाधार नहीं बनाते। उनकी योजना में मूल प्रतिज्ञा "प्राकृत अवस्था" का चित्रण करते हुए उसमें से राजत्व की उत्पत्ति बताना नहीं है अपितु उन राजधर्मों के उपदेश की है जो यह बताते हैं कि राजा का वृत्त कैसा होना चाहिए, उसका उद्भव कैसे हुआ, तथा उसकी परम सिद्धि कैसे हो--

"राजा का आचार, उसकी उत्पत्ति और जिस प्रकार उसकी इस लोक और परलोक में सिद्धि हो, इन सब राजधर्मों को कहता हूँ।"[2]

इस प्रतिज्ञा में "संभव" अथवा राजत्व का उद्भव ही वह बिन्दु है जिसका संबंध प्रस्तुत अध्याय के विषय से है। किन्तु इस बिन्दु पर मनु ने प्राकृत अवस्था का कोई विशद चित्रण नहीं किया है और न ही उसके माध्यम से राजत्व के औचित्य और उद्भव को दर्शाते हुए कोई, विशद व्याख्या ही की है। मनु के टीकाकार राजत्व की उत्पत्ति पर विशद व्याख्यायें करने के बजाय मनु की मूल प्रतिज्ञा तथा संस्कार प्राप्त क्षत्रिय को राजत्व का अधिकार देने के प्रश्न पर अपेक्षाकृत लम्बी चर्चायें करते

हैं। प्राकृत अवस्था से राजत्व की उत्पत्ति के प्रति टीकाकारों का दृष्टि-कोण इन्हीं व्याख्याओं के आलोक में समझा जा सकता है। इन्हीं से यह भी निश्चित होगा कि वे राजत्व के उद्भव के लिये प्राकृत अवस्था को कहां तक आवश्यक समझते हैं तथा दोनों के बीच किस सीमा तक कार्य-कारण संबंध का आरोपण करना चाहते हैं।

महाभारत, दीघ निकाय तथा पुराणों की तरह मनु किसी ऐसे युग की कल्पना नहीं करते जब राज्य रहा ही न हो। वे किसी ऐसे आदिम युग का भी वर्णन नहीं करते जिसमें मात्स्यन्याय या अराजक से सम्पूर्ण प्रजा पीड़ित रही हो। तीसरे श्लोक मे वे एक सामान्य बात कहते हैं--

"इस संसार के बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से प्रजाओं के इधर-उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की।"[22]

स्पष्ट है कि प्रथम पंक्ति में निर्दिष्ट वर्तमान कालिक सामान्य कथन से एकाएक छलांग लगाते हुए दूसरी पंक्ति में भूतकालिक बात प्रस्तुत कर दी गयी है। वर्तमान संदर्भ में कही गयी प्रथम पंक्ति की बात को प्राय: द्वितीय पंक्ति के अतीतवर्ती आदिम संदर्भ से जोड़ दिया जाता है और यह मान लिया जाता है कि जिस वस्तु से रक्षा अभीष्ट है वह अराजक ही है। किन्तु दोनों पंक्तियों की संगति बहुत सहज नहीं है

और टीकाकारों ने इस बात की उपेक्षा नहीं की है। भारुचि लिखते हैं कि अब सामान्य बात कही जा रही है तथा उसके विवरण के उद्देश्य से राजोत्पत्ति दिखाई गयी है।[23] किन्तु पुरातन विधि का यह कथन स्तुतिमात्र है। मेधातिथि भी इसे स्तुति ही कहकर व्याख्यायित करते हैं तथा पूर्ववर्ती श्लोक में क्षत्रियेतर को राजत्व का अधिकारी उन्होंने जिस कारण से माना है वह प्रजालोप है।[24] यह अराजक की उस स्थिति से उत्पन्न होता है जिसमें राजा का अभाव हो जाता है और सब कुछ भयाक्रान्त हो जाता है। उनकी दृष्टि में अराजक, राजा के अभाव में प्रस्तुत होने वाली एक अनिवार्य स्थिति है जो आदिम अवस्था के किसी युग का अनिवार्यत: निर्देश नहीं करती। अत: ईश्वर द्वारा राजा के आदिम सृजन को इस संदर्भ में लाना स्तुति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। किन्तु गोविन्दराज इस असंगति पर ध्यान न देकर अराजक को एक पूर्व-कालिक स्थिति मानते हैं जिससे रक्षा के लिये हिरण्यगर्भ ने राजा को बनाया। कुल्लूक अराजक और राजा की उत्पत्ति में कार्य-करण संबंध की स्थापना मात्र करते हैं और उससे रक्षण के कर्त्तव्य की अनिवार्यता पर बल देते हैं। अस्तु स्पष्ट है कि मनु अराजक और राज्य की उत्पत्ति में कार्य-कारण संबंध स्थापित करते हैं तथा प्राकृत अवस्था को मिथक नहीं बनाते।

मनु के विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही राज्य की उत्पत्ति नहीं हो गयी। दूसरे शब्दों में राज्य अनन्त संस्था नहीं है। इसके विपरीत निष्कर्ष यह है कि राजा अथवा

राज्य की उत्पत्ति के पूर्व कुछ काल तक अराजकता की स्थिति रही होगी जिससे त्राण दिलाने के लिये परमात्मा ने राज्य को सृजित किया।

मनु राज्य की दैवी उत्पत्ति का संकेत मात्र करते हैं, इसका कोई विस्तृत या क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत नहीं करते। उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्तों यथा सहमति, शक्ति, पौरोहित्य आदि की कोई झलक हम मनुस्मृति में नहीं पाते।

क्या राज्य अपरिहार्य बुराई है:

प्राचीन भारतीय विचारकों की राज्य विषयक अवधारणा से स्पष्ट है कि वे इसे एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं जिसका आविर्भाव प्रजा की रक्षा के साथ ही उसकी नैतिक एवं भौतिक उन्नति के लिये हुआ था। महाभारत,[25] मनुस्मृति[26] आदि कुछ ग्रंथों में अराजक, मात्स्यन्याय एवं मानव प्रकृति का जो चित्रण मिलता है उसके आधार पर स्पेलमैन[27] नामक विद्वान ने यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय विचारक राज्य को एक अनिवार्य बुराई मानते थे जिसे किसी अन्य विकल्प के अभाव में मनुष्य को अपनी रक्षा के लिये सहन ही करना था। महाभारत में दण्ड के अभाव में व्याप्त मात्स्यन्याय के निराशाजनक चित्रण पर टिप्पणी करते हुए वह लिखता है- यह स्पष्ट है कि राजा अपरिहार्य है। समय पर वह क्रूर, निरंकुश तथा अन्यायी हो सकता है, फिर भी वह दो बुराइयों-- राजा तथा मात्स्यन्याय- में अल्पतर है। राजपद, खेदजनक

किन्तु अत्यन्त आवश्यक संस्था मानी गयी है क्योंकि इसने मनुष्य को बदतर स्थिति से उबार लिया।" इसी संदर्भ में मानव स्वभाव के विषय में भारतीय अवधारणा का रोचक एवं सुस्पष्ट विवरण देते हुए वह बताता है कि मात्स्य न्याय में मनुष्य के स्वभाव का जो चित्रण किया गया है वही उसका सच्चा स्वरूप है जो अनिवार्यत: दुष्ट होता है। उसकी मान्यता के अनुसार मानव स्वभाव की इस अवधारणा का समर्थन भारत में ही हुआ यद्यपि यह अन्य देशों में भी प्रचलित थी। वहां के राजनीतिक दर्शन तथा वैधानिक सिद्धान्त का यह केन्द्र बिन्दु बन गया और भारत के विधि प्रणेता मनुष्य के स्वभाव एवं उसकी आकांक्षाओं के प्रति बहुत उन्नत विचार नहीं रखते थे।[28]

किन्तु स्पेलमैन द्वारा कल्पित मानव स्वभाव एवं राज्य का उपरोक्त विवरण एकांगी तथा भारतीय दृष्टिकोण को भलीभांति न समझ सकने के कारण व्यक्त किया गया लगता है। भारतीय मनीषियों ने सर्वत्र कर्म की महत्ता को स्वीकार किया है जिसके अनुसार मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही अच्छा या बुरा बन सकता है। ऐसी स्थिति में उसके जन्म-जात दुष्ट या बुरे होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मनु का यह कथन कि "स्वभाव से शुद्ध मनुष्य दुर्लभ है" मनुष्य की सहज दुष्टता का प्रमाण नहीं प्रस्तुत करता। यह अराजक स्थिति में मनुष्य के स्वभाव का चित्रण हो सकता है न कि सभी अवस्थाओं में। मनुष्य की सहज अच्छाई में विश्वास को मनु कृतयुग की कल्पना करके व्यक्त कर देते हैं। जहाँ तक राज्य का

प्रश्न है हम किसी भी भारतीय विचारक को इसे अनिवार्य अनिष्ट के रूप में चित्रित करते हुए नहीं पाते हैं। यह सही है कि महाभारत, पुराणों तथा स्मृति ग्रन्थों में यत्र-तत्र राज्य अथवा राजा के प्रति कुछ अपमानजनक बातें कही गयी हैं। महाभारत में युधिष्ठिर राजपद के हिंसा, युद्ध, दण्ड आदि से युक्त होने के कारण उसे ग्रहण करने में अनिच्छा व्यक्त करते हैं तथा उसके प्रति कुछ निन्दासूचक शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। किन्तु उनकी यह भावना वैराग्यवश उत्पन्न हुई। अन्ततोगत्वा वे यह समझ जाते हैं कि राजपद बुराई नहीं अपितु उत्कृष्ट संस्था है तथा यह जान लेने के बाद वे राजपद ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाते है।[29] पुराण तथा स्मृति-ग्रन्थ राजपद को देवता के समान पवित्र मानते है। राजा के कर्तव्य अथवा राज्य के कार्यों के अश्वमेध जैसे यज्ञ से हजार गुना बढ़कर बताया गया है।[30] राज्य को महान् देव स्वरूप निरूपित किया गया है।[31] राजा प्रजा का रक्षक ही नहीं अपितु उसका पालक भी है। राजत्व संबंधी इस उदात्त अवधारणा के विरुद्ध इन ग्रन्थों में मात्र एक ही बात देखने को मिलती है और वह यह है कि वे कभी-कभी राजकीय सेवा में रत ब्राह्मणों को कव्य "अन्त्येष्ठि भोज" तथा श्रव्य (देवभोज) में आमंत्रित किये जाने का निषेध करते हैं।[32] मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि "राजा का अन्न तेज का नाश करता है। जाने अनजाने में राजा का अन्न ग्रहण करने वाले के लिये प्रायश्चित का विधान किया गया है। राजा के प्रेष्य (सेवक) तथा दूत को भी हव्य -कव्य के अवसर पर आमंत्रण के अयोग्य घोषित किया

गया है।[33] परन्तु चूंकि ये नियम केवल याज्ञिक एवं अन्त्येष्टि संस्कारों को ध्यान में रखकर ही बनाये गये हैं अत: राजनीति तथा शासन से इनका कोई संबंध नहीं लगता। राजकीय सेवा में रत ब्राह्मणों की उपेक्षा के लिये तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी हो सकती हैं। सूत्रों तथा स्मृतियों के काल में वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा हुई तथा सभी वर्णों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का विधिवत निर्धारण किया गया। ब्राह्मण समाज के धार्मिक और अध्यात्मिक नेता थे। उनका प्रमुख कार्य राजा को दिशा निर्देश देना था। अत: यह उचित था कि उन्हें सब प्रकार की अधीनता से मुक्त रखा जाय। राजकीय सेवा से उनकी स्वाधीनता समाप्त होती थी। संभवत: इसी कारण व्यवस्थाकारों ने सेवा करने वाले ब्राह्मणों को अयोग्य घोषित कर दिया। एक स्थान पर मनु सेवा को "श्ववृत्ति" (कुत्ते की दिनचर्या) कहते हैं। मन्दिरों में वेतन लेकर जीविका कमाने वाले ब्राह्मणों तक को हव्य-कव्य के अवसर पर भोजन कराने का निषेध कर दिया गया।[34] जहाँ तक अन्य राजकर्मियों का प्रश्न है हम देखते हैं कि उनका संबंध युद्ध तथा दण्ड से होने के कारण उन्हें अपात्र समझा गया है। यह विचार युद्ध तथा हिंसा के प्रति सामान्य घृणा का परिणाम हो सकता है। "सूत्रों तथा स्मृतियों के काल में जैन बौद्ध तथा वैष्णव धर्मों द्वारा किये गये अहिंसा के प्रचार, निवृत्तिमार्गी विचारों तथा समाज में पुरोहित वर्ग के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप राजा तथा उसके कर्मचारियों के कार्यों की अवमानना की गयी।"[35] समाज में इन आदर्शों के प्रचलन से

राज्य तथा शासन को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। युद्ध तथा साम्राज्यवाद की निन्दा की गयी क्योंकि ये शान्ति के लिये बाधक थे। यही कारण है कि स्मृतिग्रन्थ इनसे संबंधित व्यक्तियों के प्रति तिरस्कारपूर्ण भावनायें व्यक्त करते हैं। अस्तु इनका राज्य के सामान्य स्वरूप से कोई संबंध नहीं लगता।

स्पेलमैन के मत का एकमात्र आधार मात्स्यन्याय संबंधी वह विवरण है जिसमें मनुष्य को दुष्ट एवं विघटनकारी बताया गया है। किन्तु लेखक ने इसकी व्याख्या सही ढंग से नहीं की है। मात्स्यन्याय से तात्पर्य यह नहीं है कि इस अवस्था में केवल बुराई ही विद्यमान रहती है तथा अच्छाई का अस्तित्व बिल्कुल नहीं होता। वस्तुत: बुराई और अच्छाई एक ही भौतिक सत्ता के दो पहलू हैं। मात्स्यन्याय की स्थिति में बुराई की प्रधानता रहती है। उत्तरोत्तर विकास ही इसकी प्रवृत्ति है जो अच्छाई को आच्छादित कर लेती है। इसी प्रवृत्ति को रोकने के लिये राज्य या राजा की आवश्यकता है। राज्य बुराई पर अच्छाई की विजय दिलाने का सबल साधन है। मनु इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि : सदाचारियों की रक्षा तथा दुराचारियों के विनाश करने से प्रजापालन में तत्पर राजा स्वर्ग प्राप्त करते हैं। जिस राजा के राज्य चोर, परस्त्रीगामी, कटुभाषी तथा कठोर दण्ड करने वाले पुरुष नहीं हैं वही स्वर्ग की प्राप्ति करता है।[36] इससे भी आगे बढ़कर विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में घोषणा की गयी है "जिस राज्य का राजा सदाचारी

होता है उसके लोग कभी भी संक्रामक रोगों, दुर्भिक्ष, अग्नि, चोरों के भय अथवा सांपों के डर से पीड़ित नहीं होते ।[37] राजा या राज्य के नैतिक महत्त्व का इससे अधिक उन्नत विचार हो ही नहीं सकता।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि भारतीय विचारधारा में शरीर को नश्वर तथा आत्मा को ही कर्त्ता एवं भोक्ता स्वीकार किया गया है। शरीर आत्मा का निवास है तथा मानव प्रकृति के आध्यात्मिक आधार तक पहुँचना यहां के दर्शन का मुख्य ध्येय रहा है। ऐसी स्थिति में मानव स्वभाव का निराशाजनक चित्रण हो ही नहीं सकता। यदि थोड़ी देर के लिये हम मान ले कि मानव स्वभाव प्रकृत्या बुरा है तो यह बता सकना कठिन होगा कि अच्छाई, मोक्ष की प्रेरणा, नैतिक परिपूर्णता एवं अध्यात्मिक कल्याण का स्रोत क्या है? इस प्रकार की अवधारणा से केवल एक ही निष्कर्ष निकलेगा कि राज्य ही इन सबका स्रोत है, किन्तु फिर यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि राज्य की अच्छाई का स्रोत क्या है।[38] इस प्रकार मनुष्य को प्रकृत्या दुष्ट मानने की कल्पना उन लेखकों के मस्तिष्क में भी नहीं रही होगी जिन्होंने मात्स्यन्याय का विवरण प्रस्तुत किया है। हिन्दू अवधारणा में मानव-स्वभाव अपने विशुद्ध रूप में चरमतत्त्व के समान माना गया है। वह अच्छे, बुरे, गुण, अवगुण सभी का अतिक्रमण कर जाता है।[39]

इस प्रकार स्पेल मैन द्वारा प्रस्तुत मात्स्यन्याय अथवा मानव स्वभाव की व्याख्या तर्क संगत नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि

भारतीय दृष्टि में राज्य या राजा अनिवार्य अनिष्ट के रूप में लिया ही नहीं गया। इसके विपरीत वह अच्छाई का पोषक एवं दुर्जनों के विरुद्ध सज्जनों का रक्षक है। यहां मात्स्यन्याय को प्राकृत अवस्था न मानकर कृतयुग को माना गया है जिसमें मनुष्य नैतिक, नेक एवं सर्वगुण सम्पन्न था। मात्स्यन्याय अथवा अराजक तो मानव स्वभाव की एक अप्रिय प्रवृत्ति है जो बाह्य परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप उत्पन्न हो जाती है। इसे कृतयुग की विकृति भी कहा जा सकता है। इसी को नियंत्रित करने के लिये राज्य या राजा की अनिवार्यता है। मनुष्य को प्रकृत्या दुष्ट और विध्वंसक मानने को भारतीय मनीषी कदापि प्रस्तुत नहीं हैं।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1- हिन्दू पालिटी, पृष्ठ 82-84, 164-68

2- शान्ति पर्व, 14-15

नैवं राज्यं न राजासीन्न न दण्डो न दाण्डिक:

धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षंतिस्म परस्परं।

3- दीघ०, भाग तीन, पृष्ठ 84-86

4- मनु0, 1·81-83

चतुष्पात्सकलो धर्म: सत्यं चैव कृते युगे।

नाधर्मेणागम: कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ।।

5- हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, III, पृष्ठ 30 तथा आगे

6- अयोध्याकाण्ड, अध्याय 67-68; शान्तिपर्व,59,67,68;

कामन्दक , 11·41; मत्स्य पुराण,225·8-17; अर्थशास्त्र, 1·4,9

7- जातक, 6·39

8- जेकोबी: जैन सूत्राज, आचा0 2·3·1·10 पृष्ठ 138

9- धर्मपाल का खालीमपुर दान पत्र, इपि0 इण्डिका खण्ड 4, पृष्ठ 348

10- मनु0 7·3

11- वही, 20-21

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रित: ।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तरा: ।।

अद्यात्काक: पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।

स्वाम्यं न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तताधरोत्तमम् ।।

12- वही, 7·22

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नर: ।

दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ।।

13- वही, 17-18 तथा 24

14- वही, 12·24-26 तथा 50 तक ।

15- वही, 8·306,311

वही, 9·253

16- स्वभावेन प्रकृत्यैव शुचो नरो दु:र्लभं शक्या:।

दण्डेन जीयते पथि स्थाप्यते·····।- मनुभाष्य 7·22

17· निसर्ग शुद्धो नर: कृच्छेता लभ्यते ।- मनु टीका,7·22

18-·· कष्टेन लभ्यते···। मन्वर्थ मुक्तावली, 7·22

19- एतद्रूपं मनुष्याणां प्रशस्त अभीष्टं च। अतस्तेनासता रूपं कृत्वा

समाप्ता दण्डस्तुति: ।।

20- मनु0, 12·8।

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ।।

21- मनु0,7·1

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृप: ।

संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा।।

22· वही, 7·3

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभु: ।।

23- वही, साधारणमधुनोच्यते तन्निमृत्यर्थ राजोत्पत्तिरनेन प्रदश्यते ।

पूर्वविधिस्तुतिरियम् ।

24- वही, 7·2

क्षत्रियाभावे तदतिदेशोऽपि ग्राह्य:।

अन्यथा प्रजालोप: स्यादिति भाव: ।।

25- शान्तिपर्व, 68·8-50

26- मनु0, 7·22

27- पोलिटिकल थिअरिज इन ऐन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 6

28- पालिटिकल थियोरिज इन ऐन्शान्ट इण्डिया, पृष्ठ 99

29- शान्ति पर्व 14-15

30- मनु0, 8·303-309, बृहद्धर्मपुराण2·3·10

31- लिंगपुराण,33·18; मनु0, 7·8

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप: ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।।

32- भविष्य पुराण, 1·147·5; मनु0, 3·152·53

33- मनु0, 4·218, राजान्नं तेज आदत्त ·······।

34- वही, 3·152

चिकित्सकान् देवलकान्मांस विक्रयिणस्तथा।

विपणेन च जीवन्तो वर्ज्या:स्युर्हव्यकव्ययो:।।

35- नेगी, जे0एस0, सम इण्डोलाजिकल स्टडीज, पृष्ठ 110

36- वही, 9·253

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।

नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पर: ।।

वही, 8·386

यस्य स्तेनं पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।

न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा श्क्रलोकभाक् ।।

37- विष्णुधर्मोत्तर, 2·2·15

नंमार्कम् न दुर्भिक्षं नाग्निचौरभयं तथा।

न च व्यालभयं तेषां येषांधर्मपरोनृप: ।।

38- राजबली पाण्डेय: भारतीय नीति का इतिहास, पृष्ठ 54

39- विष्णु पुराण: 1·5·12 तथा आगे

द्वितीय अध्याय

राज्य का स्वरूप एवं प्रकार

राज्य का स्वरूप तथा प्रकार

जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है मनु सहित समस्त भारतीय विचारक राज्य अथवा राजपद को एक कल्याणकारी संस्था मानते हैंतथा इसे अनिष्टकारी मानने का विचार उनकी कल्पना से परे था। प्रस्तुत अध्याय का विषय राज्य की संरचना एवं उसके प्रकार पर विचार करना है।

सप्तांग सिद्धान्त:

वैदिक साहित्य तथा प्रारंभिक धर्मसूत्रों में राज्य अथवा राजा के यत्र-तत्र उल्लेख के बावजूद हमें उसकी कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं मिलती। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इस समय तक राज्य संस्था सुदृढ़ रूप में स्थापित नहीं हो सकी थी। "बुद्ध काल में कोसल तथा मगध जैसे विशाल राज्यों की स्थापना हुई और इसका स्वरूप सामने आया। सर्व-प्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें राज्य की स्पष्ट परिभाषा प्राप्त होती है। यहाँ राज्य को एक सजीव एकात्मक शासन संस्था के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है और उसे "सात प्रकृतियों की समष्टि बताया गया है। वे हैं- स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र"। यह परिभाषा बाद के लेखकों के लिये आदर्श बन गयी यद्यपि कुछ में कुछ अंगों के पर्याय भी प्राप्त होते हैं।[1] विष्णुधर्मोत्तर पुराण, जो लगभग पांचवी

शती की रचना है, में स्वामी और अमात्य के स्थान पर क्रमशः "साम" तथा "दान" शब्द का प्रयोग मिलता है।[2] किन्तु ध्यातव्य है कि यह उल्लेख अंतःराज्य संबंधों के संदर्भ में किया गया है और इस अन्तर का कारण भी संभवतः यही है।[3] इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर यह अन्तर दिखाई नहीं देता।[4] सोलहवीं शताब्दी की रचना "सरस्वती विलास" में इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय सूत्रकार गौतम को दिया गया है। किन्तु इसका मूल गौतम धर्मसूत्र में नहीं मिलता अपितु इसके परवर्ती संकलन में प्राप्त होता है जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। मनुस्मृति, महाभारत तथा पुराणों में इन प्रकृतियों को अंग कहा गया है। मनु स्पष्टतः लिखते है: "स्वामी, मंत्री, पुर, राज्य, कोष, दण्ड तथा मित्र- ये सात प्रकृतियां हैं। इनसे युक्त राज्य सप्तांग कहा जाता है।"[5]

मनु के अनुसार राज्य के सात अंग परस्पर एक दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं जिस प्रकार काष्ठ के तीन दण्ड एक दूसरे के सहारे खड़े रह कर त्रिकोण आकृति के अस्तित्व को पृथ्वीतल पर बनाये रखने में समर्थ होते हैं। राज्य के अंगों की तुलना सन्यासी के परस्पर संतुलित ढंग से रखे हुए तीन दण्डों से की गयी है और बताया गया है कि जिस प्रकार किसी एक को हटा देने पर शेष दण्ड असंतुलित होकर गिर पड़ते हैं उसी प्रकार एक भी अंग के न होने पर राज्य धराशायी हो जाता है।[8] एक स्थान पर राज्य की तुलना शरीर से की गयी है और राजा को उसकी आत्मा बताया गया है।

तदनुसार 'जिस प्रकार भूख से पीड़ित होने के कारण देहधारियों के प्राण निकल जाते हैं उसी प्रकार राज्य को पीड़ित करने से प्रजाओं के प्राण भी नष्ट हो जाते हैं।'[9] सात प्रकृतियों का उल्लेख हम एक अन्य स्थान पर भी पाते हैं जहां कहा गया है कि "कोश और राष्ट्र (जिसमे पुर भी शामिल है) राजा पर, दण्ड अमात्य पर, अनुशासन सेना पर तथा संधि और युद्ध दूत पर निर्भर करता है।"[10]

मनु सात प्रकृतियों के आपेक्षिक महत्व पर भी प्रकाश डालते हैं। इस संबंध में दो प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। पहले बताया गया है कि "सात प्रकृतियो में क्रमश: पूर्व-पूर्व की आपदा को अधिक बड़ी समझना चाहिए।"[11] इसी के आगे तुरन्त यह कहा गया है कि "सन्यासी के तीन दण्डों के समान मिले हुए सप्तांग आपस के गुणों की विशेषता के कारण एक दूसरे से बढ़कर नहीं है। जिस जिस अंग से जो कार्य पूरा होता है उस कार्य में वही अंग श्रेष्ठ हो जाता है।" जहाँ तक प्रथम कथन का प्रश्न है मनु एक सामान्य बात कहते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजा को पहले अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिए, तत्पश्चात् मित्र आदि की सुरक्षा का। यदि राजा सुरक्षित है तो किसी भी अंग के नष्ट होने पर उसका पुन: प्रबन्ध कर सकता है। इसके विपरीत यदि राजा ही नष्ट हो गया तो सभी अंगों का महत्व स्वत: ही समाप्त हो जायेगा। मेधातिथि तथा कुल्लूक लिखते हैं कि "मित्र की आपत्ति से अपनी आपत्ति बड़ी है। बलशाली राजा ही मित्र की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार दण्ड तथा कोश की स्थिति है। कोष के नष्ट होने पर दण्ड भी नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार राष्ट्र के नष्ट हो जाने पर कोष की उत्पत्ति कहाँ से होगी।"[12] अन्य अंगों को भी इसी प्रकार समझना चाहिए। दूसरे स्थल पर अंगों की कार्यगत विशेषताओं को ध्यान में रखकर बात कही गयी है। मेधातिथि लिखते हैं - "कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो राजा के लिये उपयोग की न हो। जो कार्य छोटे से हो सकता है उसे बड़े नहीं कर सकते। अतः सभी प्रकृतियों की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।"[13] जिस प्रकार शरीर के अंगों में कुछ का अधिक महत्त्व होता है और कुछ का कम। किन्तु सभी का कार्य अलग-अलग होने से कोई एक दूसरे का कार्य सामान्यतः नहीं कर सकता। अतः अपने गुणों के महत्त्व के कारण किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रकृतियों के महत्त्व के कारण ही मनु इन्हें दूषित करने वालों के लिये मृत्युदण्ड का विधान करते हैं।[14] यह भी बताया गया है कि राजा को युद्ध तभी प्रारम्भ करना चाहिए जब उसकी प्रकृतियां अत्यन्त संतुष्ट हो।[15] जो राजा अपनी प्रकृतियों तथा शत्रु को नियंत्रण में रखता है, दुर्बल राजा गुरू के समान उसकी सेवा करते हैं।[16]

विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित राज्य के अंगों को देखने के पश्चात् अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इनके आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में राज्य का कोई अंगीय सिद्धान्त वास्तव में था? भण्डारकर[17] तथा आलेटोर[18] जैसे विद्वानों ने राजा तथा राज्य के बीच आत्मा-शरीर संबंध एवं विविध अंगों के अन्योन्याश्रित संबंध के आधार पर अंगीय सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। शरीर-

आत्मा संबंध अर्थशास्त्र एवं अन्योन्याश्रित संबंध मनु में संकेतित है।[19] भण्डारकर का मत मुख्यत: अर्थशास्त्र की इस उक्ति पर आधारित है कि "स्वामी उनका (प्रकृतियों का) कूट-स्थानीय अर्थात् आत्मा है (तत् कूट स्थानीयो हि स्वामी इति)। लेखक के अनुसार जिस प्रकार आत्मा शरीर में व्याप्त है तथा उसे चैतन्य बनाता है उसी प्रकार राजा विविध अंगों में व्याप्त होकर उन्हें जीवित रखता है। किन्तु कांगले[20] इस उक्ति का भिन्न अनुवाद प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार "राजा उनके शीर्ष पर स्थित है। यदि इसे स्वीकार किया जाय तो निष्कर्ष निकलता है कि राजा, प्रकृतियों में प्रथम है और उसकी स्थिति "समानों में प्रथम" (First among the equals.) जैसी है। किन्तु इसके आधार पर अंगीय सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। सालेटोर के मत का आधार मनु द्वारा वर्णित "सन्यासी के दण्ड के तीन पार्टों से राज्य की विविध प्रकृतियों की समता है।"[21] इससे राज्य मात्र एक यांत्रिक आविष्कार प्रतीत होता है जैसा कि सन्यासी का दण्ड है। किन्तु राज्य के संबंध में ऐसी बात युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होती । स्पष्टत: यह वाह्य समानता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

राज्य के सप्तांग सिद्धान्त के संबंध में गेटेल तथा ब्लंशली जैसे पाश्चात्य विचारकों के मत को उद्धृत करना अप्रसंगिक नहीं होगा। उनके अनुसार इस सिद्धान्त में मुख्य बात यह है कि यह राज्यहित को व्यक्ति हित से ऊपर मानता है। इसमें व्यक्ति का हित बिल्कुल गौण होता है

जिसका सुविधानुसार उपयोग या दुरुपयोग किया जा सकता है। पाश्चात्य अंगीय सिद्धान्त का आधार अरस्तू की यह सुप्रसिद्ध उक्ति है कि "राज्य व्यक्ति से पहले होता है।" (State is prior to Individual)। किन्तु यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं रहा है। यहां समस्त लेखक राज्य अथवा राजा का अस्तित्व प्रजा के कल्याण के लिये ही मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सप्तांग सिद्धान्त का पारम्परिक विवरण राज्य के बाह्य स्वरूप को बताने के लिये प्रतिपादित किया गया है न कि उसकीआन्तरिक प्रकृति निश्चित करने के लिये। अधिकांशत: इसका उल्लेख वैदेशिक नीति के संदर्भ में किया गया है। इसका अभिप्राय यह बताना है कि राज्य मनुष्य की कृत्रिम रचना नहीं है जिसे वह अपनी इच्छानुसार इतिहास और परम्पराओं की अनदेखी कर बना-बिगाड़ सके।[22] पश्चिम में इसका आविष्कार कृत्रिम सिद्धान्त का निषेध करने के लिये किया गया था। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है।

क्या राज्य यज्ञीय संस्था है?

भारतीय राज्य के स्वरूप निर्धारक सिद्धान्तों में स्पेलमैन ने इस नवीन सिद्धान्त को जोड़ते हुए यह प्रस्तावित किया है कि "राज्य स्वयं में एक यज्ञ तथा लोगों को मोक्ष प्रदान करने वाली संस्था है। ईंगलैण्ड की भांति भारत में भी राजा धर्म रक्षक से बढ़कर था। उसे समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों का आधार, देवलोक प्राप्त करने का साधन, मुख्य याजक तथा लोगों के कर्त्तव्यों का उसी प्रकार नियामक माना जाता था जैसे

पुरोहित याज्ञिक कार्यों का नियमन करता है।"[23]

अपने मत के समर्थन में विद्वान् लेखक ने अर्थशास्त्र, महाभारत, स्मृति ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण दिये हैं"।[24] यह सही है कि मनु प्रजा रक्षण की तुलना यज्ञ से करते हैं। "जीवों की धर्मपूर्वक रक्षा करता हुआ तथा बधयोग्य जीवों का बध करता हुआ राजा प्रतिदिन सहस्त्रों-सैकड़ों दक्षिणा वाले यज्ञ करता है।[25] इसके साथ-साथ ब्राह्मणों को विशेषाधिकार एवं दण्ड मुक्ति का जो विधान किया गया है उसे भी इस मत का आधार बताया गया है। किन्तु इन उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि राज्य अथवा राजा को यज्ञ माना गया है। रक्षण की तुलना यज्ञ से करने का तात्पर्य मात्र यही है कि प्रजारक्षण का कार्य यज्ञ के समान पवित्र होता है तथा राजा का इससे विरत होना पाप है। जिन अंशों को स्पेलमैन ने उद्धृत किया है वे केवल विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं। जहाँ तक ब्राह्मण की श्रेष्ठता का प्रश्न है वह उसके ज्ञान के कारण है। मनुस्मृति में अनेकशः ब्राह्मण के लिये भी दण्ड का विधान प्रस्तुत किया गया है।[26] इस प्रकार मनुस्मृति अथवा किसी भारतीय शास्त्र में राज्य के यज्ञीय स्वरूप का प्रतिपादन नहीं मिलता।

क्या मनु का राज्य प्रभुतासम्पन्न है?

आधुनिक परिभाषा के अनुसार राज्य के चार अनिवार्य तत्व बताये गये हैं- भूमि, जनसंख्या, सरकार तथा प्रभुसत्ता।[27] अतः यह

प्रश्न स्वाभाविक रूप से दिमाग में उठ सकता है कि क्या मनु किसी प्रभुतासम्पन्न राज्य की अवधारणा रखते हैं।

उल्लेखनीय है कि प्राचीन साहित्य में क्षत्र या क्षत्रीर्ष, राज्यम् , ऐश्वर्य, स्वामित्व जैसे शब्द मिलते हैं जिन्हें अनेक विद्वानों ने सम्प्रभुता के अर्थ में ग्रहण किया है। एच०एन० सिनहा वैदिक साहित्य के क्षत्र अथवा क्षत्रीर्ष तथा अर्थशास्त्र के स्वामित्व को सम्प्रभुता का समानार्थी मानते हैं।" घोषाल का विचार है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से "राज्यम्" शब्द का अर्थ राजसत्ता या प्रभुसत्ता है जबकि साधारणत: इससे तात्पर्य राजा से निकलता है।[29] विनय सरकार[30] तथा शामशास्त्री[31], ऐश्वर्य का अनुवाद प्रभुसत्ता करते हैं। किन्तु वी०पी० वर्मा इन सभी अर्थों की प्रमाणिकता को अस्वीकार करते हुए प्रस्तावित करते हैं कि यद्यपि प्राचीन भारत में सार्वभौम राज्य स्थित थे तथापि सम्प्रभुता संबंधी किसी अवधारणा का विकास नहीं हो पाया।[32] इसका कारण यह था कि इस अवधारणा के विकसित होने के समय योरोप में जो स्थिति व्याप्त थी वह प्राचीन भारत में नहीं थी। यहाँ योरोप जैसा कोई चर्च नहीं था जिसका प्रधान पोप हो और जो धार्मिक आधार पर अपने को राज्य से ऊपर घोषित कर सके । न ही यहां कोई सामन्ती अथवा बुर्जुआ वर्ग था जो राजा का प्रतिद्वन्दी हो सकता । प्रभुसत्ता की अवधारणा, जिसका विकास पश्चिम में बोदाँ, हाब्स, रूसो तथा आस्टीन द्वारा किया गया, एक अत्यन्त अमूर्त न्यायिक विचार है। इसका उदय पश्चिम में इस कारण

हुआ कि वहां इसकी खोज प्रारम्भ की गयी। वहां सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति के लिये पोप सम्राटों तथा सामन्ती अभिजात वर्ग के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। फलस्वरूप दैवी तथा प्राकृतिक कानूनों का पतन हुआ और इस धारणा की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया कि सार्वभौम शासक ही कानूनों का अन्तिम निर्माता है। धर्म तथा प्राकृतिक कानून दोनों ही राज्य के अधीन हैं। इस प्रकार सम्प्रभुता एक ऐसी न्यायिक विचारधारा है जो राज्य को विधि निर्माण का अनियंत्रित अधिकार प्रदान करती है। भारतीय संदर्भ में इस प्रकार की कोई पृष्ठभूमि दिखाई नहीं देती।

यदि हम सम्प्रभुता की उपरोक्त अवधारणा के आधार पर विचार करें तो मनु द्वारा कल्पित राज्य या राजा सम्प्रभु नहीं है। यहाँ राज्य का कार्य कानूनों का निर्माण करना न होकर उनका पालन करना तथा करवाना मात्र है। उसका अधिकार कार्यपालिका तथा दण्ड देने तक की सीमित है। किन्तु यहां भी उसे धर्म की सीमा में बांध दिया गया है। राजा का पद मुख्यत: दण्डधर का है जो धर्म या कानून की स्थापना और जनता को उसके अनुसार चलाने के लिये शासक मात्र है। प्रभुसत्ता की दूसरी विशेषता है कि राजा किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। यह स्थिति भी मनु के राज्य में नहीं है क्योंकि उसे धर्म और प्राचीन परम्प-राओं के प्रति उत्तरदायी माना गया है। अन्ततोगत्वा प्रभुसत्ता में राजा की सत्ता अविभाज्य मानी गयी है। वह सर्वसत्ता है जो अपने अधिकारों का अतिक्रमण या उनमें कटौती को सहन नहीं कर सकता।

किन्तु मनु का राजा ऐसा कदापि नहीं है। मनु प्रजा के स्वायत्त शासन की बात करते हैं। उनकी प्रजा अपनी संघीय संस्थाओं के द्वारा अपने लिये स्वयं नियम बनाने की स्वतंत्र है। कुल, जाति, श्रेणी तथा जनपद इस तरह की संस्थाएं थी। राजा को इसके नियमों तथा परम्पराओं को स्वीकार करते हुए तदनुसार ही अपने नियम बनाते थे।[33] अतः मनु धर्म को ही सार्वभौम सत्ता के रूप में मान्यता देते हैं, राज्य या राजा को नहीं। यही स्थिति प्राचीन भारत के समस्त विचारकों की है।

किन्तु वी०पी० वर्मा[34] प्राचीन भारत में धर्म की भी प्रभुसत्ता मानने से इनकार करते हैं। उनका मानना है कि जब प्रभुसत्ता संबंधी कोई विचार ही नहीं था तो फिर राज्य अथवा धर्म के सम्प्रभुता की बात कैसे हो सकती है? किन्तु यह उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन यूरोप में, बोदां, आस्टीन आदि द्वारा सम्प्रभुता की अवधारणा को सिद्धान्त-बद्ध किये जाने के पूर्व से ही प्राकृतिक तथा दैवी कानूनों की सम्प्रभुता में विश्वास व्यापक रूप से प्रचलित था। अतः सम्प्रभुता की अवधारणा को अस्वीकार करना राज्य को सम्प्रभु संस्था न मानने के बराबर होगा। कहा जा सकता है कि एक सम्प्रभुता बोदां आदि के विचारों द्वारा परिभाषित होने के पहले से ही यूरोप में व्यापक रूप से वितरित थी। इसी प्रकार प्राचीन भारत में सम्प्रभुता केसिद्धान्त के अभाव होने का यह अर्थ नहीं किया जा सकता है कि यहां किसी प्रकार की सम्प्रभुता ही

नहीं थी।[35]

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि भारत में धर्म को राज्य या राजा के सर्वोपरि माना गया। बेनीप्रसाद का विचार है कि सम्प्रभुता समस्त समुदाय में व्याप्त थी तथा इसकी प्रतिमूर्ति वह विधान था जिसे अन्ततः दैवी इच्छा से उद्भूत माना जाता था।[36] आर0के0 मुकर्जी हिन्दू विचार-धारा के अनुसार धर्म को ही सच्चा सम्प्रभु मानते हैं।[37] जायसवाल,[38] राधाकृष्णन्,[39] बन्दोपाध्याय[40] जैसे कई अन्य विद्वान् भी प्राचीन भारत में धर्म को ही प्रभुसत्तासम्पन्न मानते हैं। इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी विचारणीय हो जाता है कि मनु के चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा क्या है? चक्रवर्ती राज्य या राजा का क्षेत्र कौटिल्य के अनुसार "हिमालय से लेकर समुद्रतट तक विस्तृत सहस्त्र योजन भूमि"[41] है। डी0सी0 सरकार का विचार है कि "चक्रवर्ती का अर्थ एकछत्र सम्राट अथवा सार्वभौम अर्थात् समस्त भूमण्डल का शासक है। वस्तुतः इससे तात्पर्य एक ऐसे सर्वोच्च शासक से है जो किसी अधिराज की अधीनता में न हो।"[42]

जहाँ तक मनु का संबंध है हम देखते हैं कि उनका राज्य आर्यावर्त्त तक ही सीमित है। इसकी स्थिति उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्यपर्वत तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में अरब सागर के मध्य बताई गयी है।"[43] इसके अतिरिक्त वे ब्रह्मावर्त्त सरस्वती तथा दृशद्वती नदियों के बीच स्थित), ब्रह्मर्षि देश (कुरु क्षेत्र, मत्स्य, पंचाल तथा शूरसेन), मध्यदेश (हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच) और

विनशन (अदृश्य सरस्वती का स्थल) के पूर्व एवं प्रयाग के पश्चिम का भी उल्लेख करते हैं।[44] किन्तु वे दक्षिणापथ अथवा सुदूर दक्षिण से परिचित नहीं लगते। इस भौगोलिक विवरण से प्रतीत होता है कि उस समय कोई सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य नहीं था तथा न ही कोई साम्राज्यवादी शक्ति ही थी। किन्तु गहराई से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि मनु के मस्तिष्क में सार्वभौम राज्य की अवधारणा विद्यमान थी। अपनी संहिता में वैधानिक और न्यायिक प्रक्रिया का जो सुविस्तृत चित्रण वे प्रस्तुत करते हैं उसका संबंध साम्राज्य से ही हो सकता है। पुनश्च कराधान प्रणाली, राजा के विजयों की अवधारणा, षड्गुणों का उल्लेख आदि स्पष्टतः किसी चक्रवर्ती अथवा सार्वभौम राज्य के सूचक हैं।

राज्य के प्रकार:

प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य की विविध प्रकारों का उल्लेख मिलता है यद्यपि सर्वप्रचलित प्रणाली राजतंत्र ही थी। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य तथा स्वराज्य शब्दों का उल्लेख मिलता है।[45] के0पी0 जायसवाल इन्हें राजतंत्रों से भिन्न प्रकार के शासन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[46] वैराज्य के विषय में कहा गया है कि इसमें जनपद का अभिषेक होता था जबकि अन्य शासनों में राजा का अभिषेक किया जाता था। संभवतः यह ऐसी व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें राज्य नहीं होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि हिमालय प्रदेश में इस प्रकार का शासन

था जहां उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र नामक राज्य स्थित थे। अर्थशास्त्र[47] में भी वैराज्य एवं द्वैराज्य का उल्लेख मिलता है। वैराज्य के विषय में बताया गया है कि इसमें उस राज्य का शासक उस राज्य को अपना न मानकर उसे पीड़ित करता है, राज्य को अन्य लोगों को दे देता है, राज्य का विक्रय भी करता है अथवा राज्य को छोड़कर भी चला जाता है। कौटिल्य द्वैराज्य को वैराज्य से अच्छा मानता है। इसमें एक दूसरे से संबंधित दो राजाओं के शासन की अतिरिक्त पिता-पुत्र अथवा दो भाइयों का सम्मिलि शासन होता है।ऐसे राज्य में दोनों का योगक्षेम समान होता है तथा मंत्रियों पर भी अच्छा नियंत्रण होता है।[48] किन्तु अन्य लेखकों ने द्वैराज्य की आलोचना की है तथा बताया है कि ये परस्पर द्वेष, अनुराग अथवा संघर्ष के कारण नष्ट हो जाते हैं। आचारंगसुत्र में कहा गया है कि जैन भिक्षु ऐसे देश में नहीं जाना चाहिए जहां "राजा न हो, जहां युवराज का शासन हो, जहां परस्पर लड़ने वाले दो राजाओं का राज्य हो या जहां गणराज्य हो।"[49] सिकन्दर के समकालीन यूनानी लेखकों ने भारत में राजतंत्र के साथ-साथ अन्य शासन पद्धतियों के होने का उल्लेख किया है। न्यासा नगर में उच्चवर्गतंत्र, सबरक जाति में प्रजातंत्र तथा पाटल में द्वैराज्य का विवरण दिया गया है।[50] इस प्रकार विविध प्रमाणों से प्राचीन भारत में वैराज्य, द्वैराज्य, संघ अथवा गणराज्य आदि शासन प्रकारों के प्रचलन का प्रमाण मिलता है।

जहां तक मनु तथा उनके भाष्यकारों का प्रश्न है हम देखते हैं कि वे केवल राजतंत्र का ही उल्लेख करते हैं तथा अन्य शासन-तंत्रों की पूर्णतया उपेक्षा कर देते हैं। यही स्थिति अन्य लेखकों तथा विचारकों की भी है। सभी ग्रन्थों में राजतंत्र का ही वर्णन मिलता है। अन्य शासनतंत्रों का धर्मग्रन्थों और अर्थशास्त्रों में एकाध स्थानों को छोड़कर कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।[51] इसका सबसे बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि भारतीय विचारक एक व्यक्ति द्वारा नियंत्रित एवं संचालित शासन को सबसे अधिक कुशल, सुनियोजित एवं जनकल्याण-कारी समझते थे। इसके अतिरिक्त राजतंत्र की ग्राह्यता के लिये कुछ अन्य कारणों को भी उत्तरदायी माना जा सकता है। सामान्यत: हम इन्हें इस प्रकार रख सकते हैं -

1- धर्मशास्त्रों में अधिकार-भेद का सिद्धान्त प्रमुखतया मान्य है तथा भारतीय समाज व्यवस्था भी उसी पर आधारित है। तदनुसार समाज के सभी व्यक्ति गुणों (सत्व, रज तथा तम) की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होते हैं। 'प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसके गुणों के आधार पर निर्धारित होना चाहिए। इस दृष्टि से रजोगुण सम्पन्न व्यक्ति ही राजपद का अधिकारी होता है। मनुस्मृति में भी इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है।[52] आध्यात्मिक दृष्टि से समस्त प्राणियों की समानता एवं एकात्मकता स्वीकार करते हुए भी भारतीय विचारकों ने व्यवहारिक जीवन में मनुष्य की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य के गुणों के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न कार्य देना चाहिए और

इस विचार को राजव्यवस्था एवं राजनीतिक जीवन में भी प्रतिस्थापित कर दिया गया। यह निश्चित किया गया कि सर्वोच्च शासन केवल एक व्यक्ति के हाथ में ही रहना चाहिए । उस एक व्यक्ति अर्थात् राजा को धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं में इस प्रकार जकड़ दिया गया कि वह पथभ्रष्ट न होने पाये।

2· भारतीय विचारकों ने यह भली-भांति समझ लिया था कि राज्य एक ऐसी वस्तु है जिस पर सत्ता प्राप्त करने की लालच बहुत बड़ी होती है। इसे प्राप्त करने के लिये व्यक्तियों द्वारा सभी प्रकार के उचित-अनुचित साधन अपनाये जा सकते हैं। यदि राज्य के आन्तरिक शासन में भी उसी प्रकार की प्रतियोगिता उत्पन्न हो गयी तो वह राज्य तथा समाज के लिये श्रेयस्कर नहीं होगी। यह समझ लेने पर कि सभी लोग छोटे-बड़े अधिकार पाने की लालसा तथा भौतिक सुख एवं सत्ता प्राप्ति के प्रयत्न और संघर्ष में फंस जायेगे जिससे सर्वसाधारण मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् अध्यात्मिक उन्नति के मार्ग से विचलित हो जायेगा, उन्होंने सभी को राज्य तथा शासन का अधिकार देना उचित नहीं समझा और भौतिक सत्ता की प्रतियोगिता का क्षेत्र न्यूनतम लोगों तक सीमित कर अधिकतम को इस संघर्ष से बचा लिया। यदि इस प्रतियोगिता को न रोका गया होता तो समाज में अनैतिक, अधार्मिक, स्वार्थी और बलवान व्यक्तियों का प्रभुत्व स्थापित हो जाता और धर्म, सुशासन एवं न्याय के लोप हो जाने से समाज में अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती । जनतंत्र अथवा अभिजात तंत्र में सबसे बड़ा दोष यह था कि राज्य के भीतर पारस्परिक

संघर्ष और वैमनस्य पैदा होता था जिसके फलस्वरूप विरोधी राज्यों को लोभी और महत्वाकांक्षी लोगों को अपनी अपनी ओर मिलाने में सुविधा हो जाती थी। इस कारण एक राज्य के जीवन में अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती थी। गणतंत्रों के उदाहरण से स्पष्ट है कि वे अपने मंत्र को गुप्त नहीं रख पाते थे और यही उनके पतन का प्रमुख कारण बना।

3. भारतीय विचारकों का मानना था कि राज्य की रक्षा, एकता एवं स्थायित्व राजतंत्र में ही सुनिश्चित किया जा सकता है। गणतंत्र तो आपस में ही संघर्ष करते रहते थे। भारतीय विचारकों की दृष्टि में राजतंत्र में ही अधिकाधिक लोगों का कल्याण किया जा सकता है।

4. बौद्ध विचारधारा में राजत्व को सहमति पर आधारित माना गया। इससे एक प्रकार से इस विचारधारा की पुष्टि होती थी कि राजा प्रजा से प्राप्त वृत्ति के बदले ही उसकी रक्षा करता है। किन्तु हिन्दू विचारक राजपद को वैयक्तिक एवं सामाजिक अस्तित्व के लिये अपरिहार्य मानते थे। अतः सहमति के सिद्धान्त को पूर्णतया अस्वीकार करते हुए उन्होंने राजतंत्र का समर्थन किया।

इस प्रकार मनु तथा उनके भाष्यकार शासन में राजतंत्रात्मक व्यवस्था के ही पोषक हैं।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1· शर्मा आर०एस० : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृष्ठ 47·

2· अर्थशास्त्र 6·1, स्वाम्यमात्यजनपद दुर्गकोषदण्डमित्राणि प्रकृतयः ।

3- शान्तिपर्व, 69·62-63; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1·353; शुक्रनीति0, 1·61
अग्नि0, 225·11; 233·12; मत्स्य 219·341

4- हाजरा, आर०एस०:
स्टडीज इन द उपपुराणन्स, 1·3·212

5- शर्मा, आर०एस० :पूर्वोक्त, पृष्ठ 47

6- विष्णुधर्मोत्तर, 2·65·20·21

7- मनु0 9·294

8- वही, 9·294·296

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।
सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ।।

9- वही, "·112

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ।।

10- अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।

नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ।। 17·65

11- मनु0, 9·295-97

12- वही, मित्रव्यसनात्स्वव्यसनं गरीय: । स्वबलसंपन्नो हि शक्नोति मित्रमनुग्रहीतुम । एवं कोशदण्डयो: कोशनाशे हि दण्डोऽपि नश्यत्येव। राष्ट्रनाशे हि कुत: कोशोत्पत्ति:·······।

13- मेधातिथि, मनुभाष्य,

नास्ति यद्वस्तु यद्राज्ञो नोपयुज्यते। भवति हि यत्कार्यं यन्निकृष्टेन साध्यते न महता। तस्मात्सर्वा प्रकृतयो यत्नत: पालनीया:····· ।

14- मनु0, 9·232,·

15- वही, 7·170

16- वही, 7·175

17- भण्डारकर, डी0आर0: सम एस्पेक्ट्स आफ एन्शेन्ट इण्डियन पालिटी, पृष्ठ 23

18- सालेटोर, बी0ए0: एन्शेन्ट इण्डियन पालिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीच्यूसन्स, पृष्ठ 81-84

19- अर्थशास्त्र 8·1

20- कांगले, आर0पी0, कौटिल्य अर्थशास्त्र खण्ड 11·8·1·18, पृष्ठ 447·

21- मनुस्मृति 9·296

22- ग्रेटेल: पालिटिकल साइन्स पृष्ठ 111

ब्लंशली: थिअरी आफ स्टेट, पृष्ठ 18

23- स्पेलमैन, वही, पृष्ठ 9-10

24- शान्ति0 70·363·28,64,65,66·4·72, 19·21;

याज्ञ0 1·327-333,मनु0 1·92-99; 8·145-54;

अर्थ0 1·19, नारद0 11·42

25- मनु0 8·306

26- वही, 8·123, 268,378,383,385

27- गार्नर, जे0 डब्ल्यू: पालिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेन्ट, पृष्ठ 48 तथा अ

28- सावरेन्टी इन एन्शेन्ट इण्डियन पालिटी, पृष्ठ 18-19

29- घोषाल, यू0एन0: ए हिस्ट्री आफ हिन्दू पालिकल थिअरी, पृष्ठ 84

30- विनय सरकार: इन्स्टीट्यूसन्स एण्ड थिअरीज, पृष्ठ 214

31- अर्थशास्त्र, 5·5, पृष्ठ 305

32- स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थाट, पृष्ठ 77-80

33- मनु0, 8·41

जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।

समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्।।

34- पूर्वोक्त, 77·81

35- ओमप्रकाश: पालिटिकल आइडीयाज इन पुराणाज, पृष्ठ 58

36- बेनी प्रसाद: थिअरी आफ गवर्नमेन्ट इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 9

37- मुकर्जी, आर0के0: हिन्दू सिविलाइजेशन, पृष्ठ 100

38- जायसवाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 58,112

39- राधाकृष्णन्: हिन्दू व्यू आफ लाइफ , पृष्ठ 108

40- बन्दोपाध्याय, एन0सी0: कौटिल्य, 173, 286

41- अर्थशास्त्र 9·1: तस्यां हिमवत् समुद्रान्तरम् उदाचीनं योजन
सहस्त्रपरिमानं अतिर्यक् चक्रवर्त्ती क्षेत्रम् ।

42- सरकार,डी0सी0: स्टडीज इन जिओग्राफी इन ऐन्शेन्ट एण्ड मेडिवल
इण्डिया, पृष्ठ 4

43- मनु0, 2·22

44- वही, 2·17,19,21

45- ऐतरेय ब्राह्मण, 8;14-17

46- पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 1·39-40, 92,94

47- अर्थशास्त्र, 8,2:6; 11, 1:1

48- अरायणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा दो रज्जाणिवा
बरज्जाणिवा विरूद्धरज्जाणिवा ।

49- आचारंग सूत्र, 2·3·1.101

50- मेक्रिंडल: इनवेजन्स आफ अलेक्जेन्डर, पृष्ठ 81,121,252

51- मनु0, 1,118 तथा 8·41 में "जाति धर्म तथा "जनपद धर्म" का उल्लेख
मिलता है। इससे तात्पर्य गण अथवा जनजातीय राज्यों के धर्म से हो
सकता है। सेन्ट पीटसवर्ग डिक्शनरी में "जनपद" शब्द का एक अर्थ
"समुदाय " भी मिलता है।

52- वही, 12·24-49

तृतीय अध्याय

राजा तथा उसके अधिकार-कर्त्तव्य.

राजा तथा उसके अधिकार -कर्त्तव्य

राज्य के अंगों के वर्गीकरण में भारतीय विचारकों द्वारा राजा को सर्वप्रथम स्थान दिया जाना[1] यह सूचित करता है कि उनकी दृष्टि में राजपद सम्प्रभुता के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित था। सृष्टि तथा सामाजिक संगठन की उत्पत्ति संबंधी वेदों की दैवी अवधारणा ने राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति के विषय में भी किसी लौकिक अथवा भौतिक हस्तक्षेप की संभावना को क्षीण कर दिया। ब्राह्मणों तथा धर्मसूत्रों में भी समस्त मानवीय संस्थाओं को दैवविहित मानते हुए उनकी उत्पत्ति के संबंध में किसी प्रकार का सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न खड़ा करना अनावश्यक समझा गया। यह मान लिया गया कि ये सभी ईश्वरीय रचनायें हैं। अत: मनु इस मौलिक परिकल्पना से ही विवरण प्रारम्भ करते हैं राजा ईश्वर की कृति है। वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं है अपितु उसके व्यक्तित्व में "इन्द्र, वायु, सूर्य, यम , अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर जैसे देवताओं का नित्य सारभूत अंश"[2] विद्यमान है। सभी का सारभूत धारण करने के कारण राजा इनमें से प्रत्येक से महान् है। वह विशिष्ट देव है क्योंकि वह अकेले ही समस्त देवताओं के विशिष्ट तत्त्वों का धारक है। मनु की दृष्टि में राजा की सत्ता अधिदैविक है। वह मनुष्य रूप में महान् देवता है जिसके विधान को किसी को उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[3] मेधातिथि ईश्वर से तात्पर्य ब्राह्मण ग्रन्थों के "प्रजापति"

से ग्रहण करते हैं जबकि भारुचि तथा गोविन्दराज जैसे टीकाकार उसका तादात्म्य "हिरण्यगर्भ"से स्थापित करते हैं। इस प्रकार मनु का राजा ईश्वर सृष्ट है जिसका शासन समझौते पर आधारित होकर दैवी विधान पर आधारित है।

राजा की उत्पत्ति संबंधी उपरोक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मनु राजा के दैवी अधिकारों के समर्थक हैं तथा राजत्व में देवत्व का आरोपण उनकी विचारधारा का प्रमुख तत्व है। किन्तु गहराई से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि मनु की दृष्टि में राजा की ऐसी कोई अवधारणा नहीं है तथा वे राजा की निरंकुशता के प्रति भी अत्यन्त सचेष्ट हैं। वे दैवी अधिकार के समर्थकों की इस विचारधारा से कदापि सहमत नहीं हैं कि "राजा अचूक है"। उनकी एक मुख्य समस्या राजा की निरंकुशता तथा उसके अत्याचारों से प्रजा की रक्षा प्रतीत होती है। बारम्बार राजा को धर्म के अधीन घोषित करते हुए वे प्रजापीड़न के गम्भीर भौतिक एवं अध्यात्मिक दुष्परिणामों के विषय में बताते हैं। उनके राजा का देवत्व निरंकुशता तथा अत्याचार का समर्थन करने के लिये नहीं है। उसे सार्वभौम धर्म की मर्यादा में रहते हुए शासन करना है अन्यथा उसका विनाश निश्चित है। तदनुसार "जो राजा मोहवश अपने राज्य की देख-रेख न करके धन ग्रहण करता है वह शीघ्र ही राज्य से भ्रष्ट हो जाता है तथा बन्धुबान्धवों सहित जीवन से हाथ धो बैठता है। जिस प्रकार शरीर धारियों के प्राण शरीर के क्षीण होने से नष्ट हो जाते हैं

उसी प्रकार राज्य को पीड़ित करने से राजाओं के प्राण भी नष्ट हो जाते हैं।"[4] प्रथम श्लोक पर व्याख्या करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि जो राजा प्रजा के अनुराग को खो देता है वह कुछ ऐसे साहसिक लोगों द्वारा मार डाला जाता है जिन्हें अपने स्वयं के जीवन की परवाह नहीं रहती।[5] स्पष्टत: यहां राजा के अत्याचारों के विरुद्ध प्रजा के प्रतिरोध का समर्थन किया गया है। वी0पी0 वर्मा का विचार है कि मनु अथवा किसी भी हिन्दू विचारक में लोगों के राजनैतिक तथा नागरिक अधिकारों की अव-धारणा नहीं मिलती। किन्तु यह सही नहीं प्रतीत होता। भारतीय विचारकों द्वारा अत्याचारी राजा के विरुद्ध उठ खड़े होने संबंधी प्रजा के अधिकारों का बारम्बार उल्लेख न किये जाने के पीछे यह भावना प्रतीत होती है कि वे राजा के अभाव में उत्पन्न होने वाली अराजकता के दुष्परिणामों से भी काफी चिन्तित थे। अत: सावधानीपूर्वक राजपद की प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए वे अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने के प्रजा के अधिकार को भी मौन स्वीकृति प्रदान करते हैं। विद्रोह का स्पष्ट अधिकार देने के स्थान पर वे निरंकुशता के उन दुष्परिणामों का ही अधिकांशत: उल्लेख करते हैं जो ऐसे राजा को भुगतने पड़ सकते हैं।[7] शास्त्रकारों के इस दृष्टिकोण को न समझने के कारण ही यह गलत धारणा बनी कि वे किसी भी परिस्थिति में प्रजा को अत्याचारी अथवा निरंकुश राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं देते।[8]

मनु की दृष्टि में राजा तथा उसका पद दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। जहां राजपद दैवी है, उसका धारक व्यक्ति कदापि ऐसा नहीं लगता।

उल्लेखनीय है कि मनु राजा से दान लेने तथा उसका अन्न खाने का निषेध करते हैं। बताया गया है कि राजा का अन्न तेज का नाश करता है तथा महापातकियों का धन ग्रहण करने वाला राजा उनके दोष से युक्त हो जाता है।[9] एक स्थान पर मनु राजा के लिये दण्ड का विधान करते हुए लिखते हैं कि 'जहां सामान्य मनुष्यों के लिये एक पण का दण्ड है वहीं राजा के लिये हजार पण का दण्ड विहित है।"[10] इन विवरणों में राजपद तथा उसका धारक अलग-अलग प्रदर्शित किये गये लगते हैं। इस पृथक्कीकरण का एक अन्य उदाहरण राजा द्वारा दण्ड प्रदान किये जाने के संदर्भ में दिखाई देता है। बताया गया है कि पापी मनुष्य राजा से दण्ड प्राप्त कर पापमुक्त होकर स्वर्ग को जाता है।[11] स्पष्टत: यहां राजपद का दैवी होना ही कारण है। देवत्व राजा के निर्णय से संबद्ध है जो राजत्व के दैवी पद पर आसीन होने के कारण उसे प्रेरणा के रूप में उपलब्ध होता है और जिसके कारण वह दण्डधर होता है। तात्पर्य यह नहीं है कि राजा द्वारा मारा गया प्रत्येक व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त कर लेता है अथवा राजा में अपनी इच्छानुसार किसी को भी स्वर्ग पहुंचा देने की शक्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु में राजपद ही दैवी है, व्यक्ति नहीं। यहां राजा ईश्वर का ऐसा परमपावन और सर्वशक्तिमान् प्रतिनिधि नहीं जो कोई गलती नहीं कर सकता और उसका अत्याचार भी मनुष्य द्वारा

अपने पातकों या मूल पातक का दैवी दण्ड समझकर बर्दाश्त किये जाने चाहिए जैसा कि पाश्चात् विचारधार में दिखाया गया है। मनु कर्म के अटल सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। यह कर्म ही है जो जीवन में मनुष्य की स्थिति निर्धारित करता है किन्तु उसकी प्रकृति या मौलिक स्वभाव नहीं क्योंकि वह तो उसके वर्तमान परमतत्व के स्वरूप से निर्धारित होता है। अत: व्यक्ति के राजपद प्राप्त करने में ईश्वर की अपेक्षा उसके कर्म की ही भूमिका अधिक है। इसमें भाग्य की भी भूमिका हो सकती है, किन्तु यह निर्णायक तत्त्व नहीं है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि मनु राजद्रोह को पाप की कोटि में नहीं रखते, अपितु उसे राजनीतिक अपराध के रूप में ही देखते हैं। यह कहीं नहीं बताया गया है कि राजद्रोह पाप या नैतिक अपराध है जो व्यक्ति को नरक में ले जाता है अथवा उसके पुण्यों को नष्ट कर देता है। जहां राजा के दैवी अधिकारों के पोषक राजद्रोह को महापाप निरूपित करते है वहीं मनु का इस विषय में मौन धारण यह संकेत देता है कि उनका राजा लौकिक ही है। उसके दैवनिर्मित होने का वर्णन उसकी गरिमा और दायित्व में वृद्धि के लिये ही है। यह कि "राजा अपने पराक्रम से विभिन्न देवताओं के समान बन जाता है," राजा तथा देवताओं के कार्यों में समानता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा "बालक राजा का अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह महान् देवता ही है जो मनुष्य रूप में स्थित है" जैसा विवरण राजा के प्रति सामान्य जन के दृष्टिकोण को अधिक से

अधिक सम्मानजनक बनाने का अर्थवाद मात्र है, इसका उद्देश्य राजा के देवत्व की स्थापना करना और उसे ईश्वर की भांति सर्वशक्तिमान् एवं निरंकुश बनाना नहीं है। एक स्थान पर मनु राजा को अशौच से मुक्ति प्रदान करते हुए कहते हैं कि सपिण्ड के मरने पर उसे अशौच दोष नहीं लगता क्योंकि अभिषिक्त होने पर राजा इन्द्रपद प्राप्त कर लेते हैं। राजा लोक-पालों के शरीर को धारण करता है जो शुद्धि और अशुद्धि के अधिष्ठाता हैं।[12] किन्तु यहां अर्थ यह नहीं है कि राजा का देवत्व ही उसके अशौच से लिप्त न होने में कारक है। विष्णु तथा यम जैसे व्यवस्थाकारों के मत को मनु के साथ सुमेलित करने से स्पष्ट हो जाता है कि राजा का देवत्व उसके पद में ही निहित है, शरीर में नहीं। विष्णु के अनुसार राजकर्म (न्याय, शान्ति, हवनादि) करने में ही अशौच नहीं लगता। यम इसे "अत्यायिक कार्य" तक ही सीमित करते हैं।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि राजा का देवत्व उसकी प्रतिष्ठा को बढाने के लिये है ताकि प्रजा द्वारा बारम्बार राजद्रोह की प्रवृत्ति को रोका जा सके। इसका उद्देश्य यह समझना है कि राजा देवता के समान पवित्र है तथा उसे सामान्य जन समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। उसका सम्मान तथा आज्ञा पालन करना चाहिए तथा यथासंभव उसकी त्रुटियों की उपेक्षा करनी चाहिए। टीकाकार मेधातिथि स्मृतिकारों द्वारा वर्णित देवत्व संबंधी समस्त विवरणों को "अर्थवाद" मानते हैं।[13] बाणभट्ट ने इसे "धूर्त चाटुकारों द्वारा गढ़ी हुई बात" बताया है।[14]

जे०एन० फिग्गिस[15] राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त में चार मूल बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं-

1· नृपतंत्र दैवनिर्मित संस्था है।

2· राजा का अनुवंशत्व स्वतः सिद्ध है। इसे किसी भी प्रकार से समाप्त नहीं किया जा सकता।

3· राजा का उत्तरदायित्व केवल ईश्वर के प्रति है, सीमित राजतंत्र जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

4· राजद्रोह पाप है। प्रत्येक स्थिति में राजा की आज्ञाओं का पालन होना चाहिए, भले ही वे दैवी मान्यताओं के विरुद्ध हों। 'यह सही है कि मनु ने राजा को दैवनिर्मित माना है किन्तु यह कहीं नहीं कहा गया है कि वह राज्य के मामलों में उसी प्रकार भाग लेता है जिस प्रकार जेहोवा ने प्राचीन हिब्रू राज्य के मामलों में भाग लिया था। चूंकि भारत में ब्राह्मणवर्ग भी दैवत्व का प्रबल दावेदार रहा अतः यहां राजपद व्यवहार में मिस्र की भांति दैवी संस्था नहीं बन सका। मनु अपने शास्त्र के प्रारम्भ में ही राजा के दैवी स्वरूप का निषेध करते हुए जान पड़ते है जहां वे कहते हैं कि देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, पाखण्ड धर्म, गणधर्म आदि सभी को उन्होंने मान्यता प्रदान की है।[16] इसमें जाति धर्म को ही कुछ हद तक दैवी कहा जा सकता है, अन्य सभी लोकाचार युक्त है। राजा को सलाह दी गयी है कि वह विभिन्न धर्मों को देखकर तदनुसार ही अपना धर्म प्रवर्तित करे।[17] फिग्गिस के विवरण में दूसरी बात राजा के आनुवंशिक अधिकार के विषय में कही गयी है जिसे किसी भी प्रकार से समाप्त नहीं किया जा सकता।

दूसरे शब्दों में राजा को पदच्युत् करने का अधिकार किसी को नहीं है। किन्तु मनु अपने राजा को इस विशेषाधिकार से भी वंचित रखते हैं तथा अयोग्य राजाओं को पदच्युत् करने का अधिकार प्रजा को प्रदान करते हैं। इससे सूचित होता है कि राजा के दैवी अधिकार संबंधी दूसरा तत्व भी मनु में नहीं मिलता। जहां तक अन्तिम दो विशेषणों का प्रश्न है चूंकि मनु प्रजा को राजा के विरुद्ध उठ खड़े होने की अनुमति प्रदान करते हैं अत: वे भी यहां लागू नहीं होते। इस प्रकार मनु अथवा प्राचीन भारतीय शास्त्रों में राजा को दैवी मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं मिलता। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मनु में राजपद को ही दैवी माना गया है न कि उसे धारण करने वाले व्यक्ति विशेष को।

मनु की राजत्व संबंधी अवधारणा पितृपरक है। उनके अनुसार राजा को "सभी मनुष्यों के साथ पितृवत् आचरण करना चाहिए।"[18] राजा के आचरण पर टिप्पणी करते हुए भारुचि लिखते हैं कि उसे सभी मनुष्यों के साथ एक जैसा व्यवहार करना चाहिए।[19] मेधातिथि का विचार है कि राजा का व्यवहार करसंग्रह करते समय तथा दूसरे कार्य करते समय दोनों अवसरों पर सौहार्द पूर्ण होना चाहिए।[20] कुल्लूक के मत में जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को स्नेह देता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से स्नेह करना चाहिए।[21] उल्लेखनीय है कि कौटिल्य भी इसी सिद्धान्त का पोषक है। किन्तु राजा की पितृपरक अवधारणा में हमें उसकी निरंकुशता को खोजने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए अपितु

यह राजत्व विषयक दार्शनिक आदर्श को प्रस्तुत करता है। यह भी ध्यातव्य है कि संस्कृत कोश में प्रजा का एक अर्थ सन्तान भी मिलता है। कहा जा सकता है कि "प्रजा"शब्द से ही पितृपरक अवधारणा की झलक मिलती है।

राजपद का अधिकार:

मनु के अनुसार "शास्त्रानुसार वेदोक्त रीति से उपनयन संस्कार प्राप्त क्षत्रिय न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा करे।[23] मनु के टीकाकार संस्कार प्राप्त क्षत्रिय को राजत्व देने के प्रश्न पर अपेक्षाकृत लम्बी चर्चायें करते हैं। "राज" शब्द की व्याख्या करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि यह क्षत्रिय जाति वाची नहीं है क्योंकि अभिषेक और अधिपत्य किसी भी व्यक्ति में गुण योग से आते हैं, किसी वर्ण विशेष में जन्म लेने के कारण उसकी जाति से नहीं। जनपद और ऐश्वर्य को धारणा करने वाला ही नृप है और उसका वृत्त पूर्णतया वेदमूलक नहीं होता। उसके वृत्त की अन्य मूलकता धर्मशास्त्रों के विपरीत नहीं हो सकती। कुल्लूक भी "राज"शब्द को क्षत्रिय मूलक न मानकर व्यक्ति विशेष का गुणवाची मानते हैं। जो कोई भी इस गुण या वृत्त का अनुगमन करता है- क्षत्रिय या क्षत्रियेतर- वह राजा हो जाता है। पुरुष सूक्त की योजना में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के साथ वर्णों की उत्पत्ति हुई तथा व्यक्ति उन वर्णों में ही उत्पन्न हुए हैं। दूसरे शब्दों में वर्ण व्यक्ति के वर्गीकरण से उत्पन्न नहीं हुए हैं। वर्णक्रम सृष्टि योजना का अंग है और व्यक्ति अनिवार्यत: किसी न किसी वर्ण में ही पैदा होते हैं।

उल्लेखनीय है कि मनु विभिन्न स्थानों पर राजा तथा क्षत्रिय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय रूप में ही करते हैं और इस प्रकार वे यह प्रतिपादित करते हुए जान पड़ते हैं कि राजत्व का अधिकारी केवल क्षत्रिय ही है। किन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि राजा क्षत्रियेतर भी होते थे- यहां तक की शूद्र भी । यदि ऐसी बात न होती तो वे ब्राह्मण को शूद्र राज्य में प्रवेश की वर्जना न करते।[23] मनु के इस अन्तर्विरोध को केवल यही मानकर सुलझाया जा सकता है कि राजत्व को क्षत्रियवर्ण में सीमित करते हुए वे सिद्धान्त की बात करते हैं तथा शूद्र राजा की बात करते हुए वे तथ्य का उल्लेख करते हैं। सातवें अध्याय के द्वितीय श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने क्षत्रियत्व और राजत्व के अंर्तसम्बन्ध का विश्लेषण किया है। भारुचि कहते हैं कि स्नानपर्यन्त समस्त संस्कारों को विधिवत् प्राप्त क्षत्रिय ही शास्त्रोक्त विधि से सभी प्रजाजनों के परिरक्षण का अधिकार प्राप्त करता है। वे अन्य वर्णों के राजा होने की संभावना को स्पष्टत: नकार देते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि ऐसा क्षत्रिय जो राजा नहीं होता क्या शास्त्रों के अनुसार परिरक्षण के अधिकार से युक्त है? इसके समाधान में वे लिखते हैं कि साधारण क्षत्रिय के लिये जो राजा नहीं है, शास्त्र का यह उपदेश दृष्टार्थक है क्योंकि उससे भी ग्रामादि के संरक्षण की आशा की जाती है। किन्तु राजा के संबंध में यह उपदेश दृष्टार्थक तथा अदृष्टार्थक दोनों ही है। कुल्लूक दृष्टार्थक में भी बिना रक्षण के बलि का आहरण करने वाले राजा या क्षत्रिय के नरक प्राप्ति की बात करते हैं। किन्तु उनके अनुसार आपद्धर्म के कारण वैश्य या शूद्र के भी संरक्षण की स्थिति आ सकती है, यद्यपि

राजत्व का अधिकार केवल क्षत्रिय को है, अन्य को नहीं। नारद का उद्धरण देते हुए वे लिखते हैं कि आपत्ति काल में शूद्र भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के कार्य से जीवन यापन कर सकता है। अतः आपद्धर्म के न्याय से कुल्लूक के अनुसार प्रजा रक्षण का कार्य ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी कर सकते हैं। जहां तक मेधातिथि का प्रश्न है, क्षत्रिय के राजाधिकारी होने में उन्हें भी कोई संदेह नहीं है किन्तु उसके अभाव में उसका अतिदेश भी ग्राह्य है- ऐसी उनकी मान्यता है। इसका कारण बताते हुए वे लिखते हैं कि यदि अन्य को राजा नहीं बनाया गया तो प्रजा का विनाश हो सकता है।[24] ध्यातव्य है कि क्षत्रियेतर के राजत्व के तथ्य को क्षत्रिय वर्ण में सीमित करने के धर्मशास्त्रीय नियम के अन्दर समेटने के उद्देश्य से मेधातिथि, कुल्लूक की तरह आपद्धर्म का सहारा नहीं लेते तथा उसे प्रजालोप की आत्ययिक परिस्थिति से जोड़कर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। भारुचि इस प्रश्न पर विचार ही नहीं करते कि क्षत्रियेतर भी राजा होते हैं।

राजा की योग्यता एवं उसके गुण:-

मनु राजा की योग्यता एवं उसके गुणों का विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हैं। बताया गया है कि प्रातः उठकर वह त्रिवेदों के ज्ञाता और विद्वान् ब्राह्मणों की पूजा करे। वह उनके शासन में रहे अर्थात् उनके निर्देशानुसार कार्य करे। राजा वृद्ध, वेदज्ञ एवं पवित्र हृदय वाले उन ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे तथा उनसे त्रयी विद्या, नित्य दण्डनीति विद्या, आन्वेक्षिकी तथा आत्मविद्या और लोकव्यवहार से वार्ता विद्या

का ज्ञान प्राप्त करे। त्रयी से तात्पर्य ऋक्, साम एवं यजुष् से है जिससे धर्म विषयक ज्ञान होता है। दण्डनीति विद्या से नीति-अनीति अर्थात् अर्थशास्त्र का ज्ञान होता है। मेधातिथि दण्ड को दमन के अर्थ में ग्रहण करते हुए लिखते हैं कि इससे शत्रु, मित्र, अन्यायी आदि पर नियंत्रण किया जाता है।[25] अन्वीक्षिकी से तर्कविज्ञान का ज्ञान होता है। आत्मविद्या से उन्नति तथा दुख में क्रमशः हर्ष तथा शोक का निग्रह होता है। वार्ता से तात्पर्य कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य से है। शास्त्रकारों ने अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति- इस चारों को धर्मस्थिति का कारण निरूपित किया है।[26] मनु विनयशीलता को राजा का प्रधान गुण निरूपित करते हुए लिखते है कि पहले से विनय युक्त राजा भी विद्वान् ब्राह्मणों से सर्वदा विनय सीखे क्यों कि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होते। तत्पश्चात् वे राजा को सलाह देते हैं कि उसे जितेन्द्रिय होना चाहिए क्योंकि इन्द्रियनिग्रही राजा ही अपनी प्रजा को वश में रख सकता है। वे काम-जन्य दश तथा क्रोधजन्य आठ व्यसनों को त्यागने की सलाह देते हैं। काम-जन्य व्यसनों में मृगया, जुआ, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मदपान, वाद्य, नृत्य, गान और व्यर्थ घूमना बताये गये हैं। इसी प्रकार क्रोध जन्य व्यसनों के नाम पिशुनता, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया अर्थात् दूसरे के गुणों में दोष देखना, अर्थदोष, कठोरवचन तथा कठोर दण्ड को गिनाया गया है। इन दोनों का मूल लोभ को माना गया है। काम-जन्य व्यसनों में मद्यपान, जुआ, स्त्रियां तथा आखेट तथा क्रोधजन्य व्यसनों में

दण्ड प्रयोग, कटुवचन तथा अर्थदूषण को क्रमशः अधिक कष्ट दायक माना गया है। मनु व्यसन की तुलना मृत्यु से करते हैं तथा प्रथम को अधिक कष्ट कारक मानते हैं क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरुष नरकों में जाता है जब कि व्यसन रहित पुरुष स्वर्ग की प्राप्ति करता है।[27]

राजा की दिनचर्या-

मनु राजा की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार राजा रात्रि के अन्तिम पहर से उठकर शौचादि से निवृत्त हो अग्नि में हवन तथा ब्राह्मणों की पूजा करके शुभ सभा में प्रवेश करे। वहां सभी को संतुष्ट कर विसर्जित करने के बाद मंत्रियों के साथ गुप्त परामर्श करे। तत्पश्चात् व्यायाम तथा दोपहर का स्नान कर भोजन करने के लिये अन्तःपुर में जाय। वहां योग्य परिचारकों द्वारा तैयार अन्नादि को विषनाशक मंत्रों द्वारा शुद्ध करने के उपरान्त ग्रहण करे। यहां मनु राजा की व्यक्तिगत सुरक्षा के प्रति अत्यन्त सजग प्रतीत होते हैं। राजा के भोजन के विषय में लिखते हुए मेधातिथि तथा कुल्लूक कहते हैं कि इसका परीक्षण कुशल वैद्य, अग्नि, चकोर पक्षी आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। सविष अन्न, अग्नि में डालने पर चिटचिटाने लगता है तथा उसे देखते ही चकोर पक्षी की आँखें लाल हो जाती हैं। सुवर्ण पात्र में उसका रंग बदल जाता है।[28] राजा को सलाह दी गयी है कि वह विषनाशक मंत्रों को सदा धारण किये रहे। ये सभी भोजन की शुद्धता का परीक्षण करने के लिये अनिवार्य है। कहा गया है कि भोजनोपरान्त राजा अन्तःपुर में महिलाओं के साथ विश्राम करे किन्तु

यथासमय उठकर पुनः राजकार्यों के चिन्तन में प्रवृत्त हो जाय। इस प्रकार मनु राजकार्य को राजा का सर्वप्रधान लक्ष्य निरूपित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हर परिस्थिति में राजा को प्रजाहित का ही चिन्तन करना है। यह विचार राजा अथवा राज्य विषयक भारतीय अवधारणा के सर्वथा अनुकूल है।

राजा का निवास-

मनु राजा के निवास योग्य स्थान तथा राजमहल की स्थिति का भी विवरण देते हैं। एक स्थान पर बताया गया है कि राजा ऐसे देश में निवास करे जो "जांगल, सस्य-सम्पन्न, आर्यप्राय, अनाविल तथा रम्य हो, जिसके सामन्त विनम्र हों तथा जहां उसकी आजीविका सुलभ हो।"[29] कुल्लूक के अनुसार जिस स्थान में अधिक जल न हो, खुली हवा हो, सूर्य का प्रकाश पर्याप्त रहता हो, धान्यादि बहुत उत्पन्न होता हो उसे जांगल देश कहते हैं।[30] आर्य-प्राय तथा अनाविल से तात्पर्य धर्मात्माओं से युक्त एवं अधिव्याधि से रहित बताया गया है। आजीविका का अर्थ कृषि, वाणिज्य आदि की सुलभता है। आगे बताया गया है कि राजा अपना महल दुर्ग के मध्य में बनवाये और "वह विशाल, सुरक्षित, सब ऋतुओं के अनुकूल, शुभ्र एवं जलाशयों तथा वृक्षों से युक्त हो।[31] मेधातिथि, कुल्लूक, गोविन्द राज आदि के अनुसार इस महल में रनिवास, देवालय, शास्त्रागार, अग्निशाला, स्नानागार अलग-अलग बने हों तथा सभी ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले अन्न, फल आदि यहां सुगमता से पहुँच सकते हों। इस प्रकार मनु का राजा जिस

महल में निवास करता वह सब प्रकार से सुरक्षित एवं सुख-सुविधाओं से युक्त है।

राजा के कर्तव्य एवं कार्य:

मनु द्वारा निर्देशित राजा के कर्त्तव्यों एवं कार्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

कार्यकारी कर्त्तव्य-

यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होता था जिसके अन्तर्गत रक्षा तथा दण्ड दोनों ही सम्मिलित थे। रक्षा से तात्पर्य सभी वर्णों तथा आश्रमों की रक्षा है।[32] टीकाकार मेधातिथि रक्षण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बनाते हुए इसमें समस्त बच्चों तथा वृद्धजनों को सम्मिलित करते हैं। इनकी उपेक्षा करने वाला राजा पाप का भागी बनता है। एक स्थान पर वे सभी रक्षा से तात्पर्य करद, दीन, अनाथ आदि से लेते हैं तथा लिखते हैं कि "रक्षा से तात्पर्य पालन से है। राजा को प्रजा की अनिष्ट से रक्षा तथा दुर्बलों की बलवानों के अत्याचार से रक्षा करनी चाहिए।"[33] मनु कहते हैं "अच्छी तरह राज्य की रक्षा करने वाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता है अर्थात् उन्नति करता है। प्रजा रक्षण का कार्य राजा को अत्यन्त निष्ठा एवं उत्साह पूर्वक करना चाहिए क्योंकि इसी के द्वारा वह प्रजा के पुण्यों का छठां भाग पाने का अधिकारी होता है। इसके विपरीत रक्षा न करने वाले राजा को अधर्म का भी षष्ठांश मिलता है। राज्य में रहने वाली प्रजा जो

(वेदादि) पढ़ती है, यज्ञ करती है, दान देती है तथा पूजन करती है, उस पुण्य का छठां भाग अच्छी तरह प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को प्राप्त होता है। मनु प्रजारक्षण की तुलना सहस्त्रों-सैकड़ों दक्षिणा वाले यज्ञों के फल से करते है।[34]

बलवानों के अत्याचार से दुर्बलों की रक्षा तभी संभव है जब उन्हें शरीर दण्ड दिया जाय। इसके तीन उपाय कहे गये हैं- कारावास, बन्धन तथा बध। मेधातिथि "वध" का अर्थ मृत्युदण्ड लगाते हैं जबकि कुल्लूक इसे अंग-भंग मानते हैं। टीकाकार नन्दन ने यहां अभिप्राय आर्थिक जुर्माने से लगाया है।

प्रजा रक्षण का तीसरा पक्ष बालकों , असहायों तथा स्त्रियों की रक्षा है। राजा कोअवयस्क तथा अनाथ के धन की तब तक रक्षा करनी चाहिए जब तक उनका समावर्तन संस्कार न हो जाय। कुल्लूक इसे 16 वर्ष की आयु तक मानते हैं। मेधातिथि इससे तात्पर्य शूद्रों से मानते हैं जो वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित हैं। इसी प्रकार बन्ध्या, पुत्र या पुत्री से हीन या पतिव्रता विधवा तथा रोगिणी स्त्रियों की सम्पत्ति की रक्षा भी राज्य द्वारा की जानी चाहिए।[35]

मनु के पूर्व मध्यकालीन भाष्यकार राजा के प्रजारक्षण संबंधी कर्त्तव्यों पर विशिष्ट बल देते हैं। मेधातिथि इस कर्त्तव्य का बारम्बार उल्लेख करते हैं तथा इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रजा को शामिल करते हैं। उनकी मान्यता है कि कर प्रदान करने वालों की रक्षा करने से राजा उनके द्वारा प्रदत्त

कर का उपयोग करता है जब कि दीनों, अनाथों आदि की रक्षा करने से उसे अदृष्ट फल अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[36] कुछ अन्य समकालीन टीकाकारों का मत भी इसी प्रकार का है। विज्ञानेश्वर तथा अपरार्क ने इस बात पर बल दिया है कि प्रजा रक्षण राजा का भौतिक कर्त्तव्य बनता है जो प्रजा से कर लेने के बदले में प्रदान किया जाता है। विज्ञानेश्वर तो इसे भूमि दान तथा अन्य दानों से भी बढ़कर मानते हैं।[37] टीकाकारों के इस दृष्टिकोण को तत्कालीन राजनीतिक- सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। सामन्ती प्रवृत्तियों के उदय से उत्पन्न अव्यवस्था ही इसके लिये जिम्मेदार रही होगी जिसमें शासक प्रजारक्षण के अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से विमुख हो रहे थे।[38] अत: टीकाकारों की चिन्ता उचित ही थी।

वैधानिक कर्त्तव्य-

मनु का शासक विधि-निर्माता न होकर उसका प्रवर्त्तक मात्र है। वे जिन अठारह व्यवहार पदों का विवरण देते हैं,[39अ] उन्हें पहले से ही धर्म-शास्त्रों द्वारा निर्धारित किया जा चुका है। राजा का कर्तव्य तो धर्म या कानून की स्थापना करना तथा जनता को उसके अनुसार आचरण करने को प्रेरित करना है। यह स्पष्टत: कहा गया है कि दण्ड, शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाले (यथाशास्त्रानुचारिणा) राजा द्वारा ही न्यायपूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है।[39 ब] राजा को सलाह दी गयी है कि वह लोगों के साथ न्याय युक्त वर्ताव करे।[40] मनु बेन, नहुष, सुदास, सुमुख तथा

नेमि जैसे राजाओं का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं जो निरंकुशता का दावा करने तथा विनयशील न होने के कारण नष्ट हो गये।[41] राजा का कार्य दण्डात्मक तथा कार्यकारी पक्ष तक ही सीमित है, किन्तु यहां भी उसकी स्थिति निरंकुश नहीं है और उसे धर्म की मर्यादा के अधीन रहना है। कहा गया है कि "दण्ड" जिसके अधीन राजा को अपने आदेश निर्गत करने है, विधिवत, विचार करने के उपरान्त ही प्रवर्तित करना है। इस प्रकार शासक को विधिनिर्माता मानने का विचार मनु समेत किसी भी विचारक ने कल्पित नहीं किया है।

मनु के राजा को लोकाचार का भी पूरा ध्यान रखना है तथा तदनुसार ही अपने आदेश निर्गत करना है।[42] कहा गया है कि उसे "शाश्वत धर्म पर विचार करनेके बाद ही अपना निर्णय देना चाहिए।[43] उन विषयों में भी जहां धर्मशास्त्रों से कोई सहायता नहीं मिलती राजा को स्वत: व्याख्या करने का अधिकार नहीं दिया गया है बल्कि यह कार्य एक विद्वत् परिषद् के अधीन है। सर्वप्रथम शिष्ट (वेदज्ञ) ब्राह्मणों की राय कानून होती है। अधिक से अधिक दस तथा कम से कम तीन ब्राह्मण मिलकर "सभा" का निर्माण करते हैं। उनका निर्णय ही कानून होता हैजिसे कोई भी चुनौती नहीं दे सकता।[44] दश में से तीन वेदज्ञ, एक तार्किक, एक मीमांसक, एक नैरूक्तक, एक धर्मपाठक तथा तीन आश्रमों - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ से एक एक सदस्य लिये जाते थे। बताया गया है कि तीन विद्वान् ब्राह्मणों के अभाव में वेदतत्व का ज्ञाता एक भी ब्राह्मण जिसे धर्म निश्चित करे उसे ही श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिए, दस सहस्त्र मूर्खों का कहा हुआ धर्म नहीं होता

है।[45] इससे स्पष्ट है कि विधियों की व्याख्या सामान्य मनुष्य पर नहीं छोड़ी जाती थी अपितु यह कार्य किसी विशेषज्ञ का ही था।

इस प्रकार मनु तथा उनके भाष्यकारों के विवरण से स्पष्ट है कि राजा सुस्थापित कानूनों का प्रवर्तक नहीं अपितु प्रतिपालक मात्र है। ये नियम -कानून धर्म, व्यवहार, जाति, कुल, समुदाय आदि की प्रथाओं से संबंधित हो सकते हैं। राज्य जिन नियमों को लागू करता है उन्हें "धर्म" कहा गया है।[46]

न्यायिक कर्त्तव्य

मनु की व्यवस्था में राजा देश का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। कहा गया है कि वह "देश, काल, दण्ड, शक्ति और विद्या का ठीक-ठीक विचार कर अन्यायियों को शास्त्रानुसार दण्ड दे।"[47] मेधातिथि के अनुसार यहां अन्यायियों से तात्पर्य राज का बुरा चाहने वाले महामात्य आदि कर्मचारियों से है। कुल्लूक लिखते हैं कि जिस अपराध में जो दण्ड उचित हो उसे ही तत्वत: समझ कर दिया जाना चाहिए। राजा को ब्राह्मणों तथा मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मणों के साथ राजसभा में जाना चाहिए तथा वहां बैठकर या खड़ा होकर दाहिने हाथ को उठाकर विनम्र वेश-भूषा धारण कर विवादार्थियों के मामलों को देखना चाहिए। मेधातिथि, गोविन्दाज तथा कुल्लूक के अनुसार महत्त्वपूर्ण मामलों में निर्णय देते समय खड़ा हो जाना चाहिए। इस बात पर बल दिया गया है कि राजा को न्याय देते समय निष्पक्ष भाव

रखना चाहिए तथा "पिता, माता, आचार्य या पुरोहित, मित्र, स्त्री, या पुत्र कोई भी हो यदि वे स्वधर्म का पालन नहीं करते तो उन्हें भी दण्ड देना चाहिए। सभी प्राणियों को भयाक्रान्त करने वाले साहसिकों को मित्र के कहने पर अथवा उनसे बहुत अधिक धन मिलने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए।"[48] राजा को कार्यानुसार मृदु अथवा तीक्ष्ण होने की सलाह दी गयी है।[49] एक स्थान पर कहा गया है कि "राजा को जितेन्द्रिय और क्रोधरहित होकर यम के समान निष्पक्ष भाव से न्याय करना चाहिए।"[50] जिस प्रकार यम समय आने पर प्रिय और अप्रिय दोनों को मारता है उसी प्रकार अपराध करने पर राजा प्रिय-अप्रिय सभी को दण्डित करे।[51] यह भी कहा गया है कि अमात्य या न्यायाधीश जो कार्य ठीक से न करें राजा उसे निरस्त कर पुनः करें तथा उन्हें दण्ड दे।[52] कुल्लूक के अनुसार कार्य ठीक से न करने से तात्पर्य न्यायालय में अनुचित निर्णय देना है।

यद्यपि न्याय-शासन में राजा सर्वोच्च था तथापि इसके लिये एक न्यायालय भी होता था। राजा का कार्य उसके सुचालन को देखना ही था। इस संस्था को "सभा" कहा गया है। राजा को मुख्यतः यही देखना पड़ता था कि कहीं अन्याय न हो, अपराधियों को दण्ड अवश्य मिले तथा निर्दोष को तंग न किया जाय। मनु के अनुसार धर्मविरुद्ध दिया गया दण्ड राजा के यश तथा कीर्ति का नाश करता है, परलोक में दूसरे धर्म से प्राप्त होने वाले स्वर्ग में बाधक है, अस्तु वह त्याज्य है। अदण्ड्य को छोड़ता हुआ राजा बड़ा अयश पाता है तथा नरक में भी जाता है।[53] कुल्लूक

लिखते हैं कि इससे जीवित राजा के यश का नाश हो जाता है तथा मृत्यु के बाद उसकी कीर्ति भी नष्ट हो जाती है।

प्रशासनिक कर्त्तव्य

राजा, राज्य के प्रशासन का प्रमुख स्रोत है। इस रूप में वह विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। सर्वप्रथम यह बताया गया है कि उसे सात या आठ मन्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। तत्पश्चात् यह कहा गया है कि राज का कार्य जितने मनुष्यों से पूरा हो उतने मनुष्यों को नियुक्त करना चाहिए। चतुर एवं कुलीन दूत की नियुक्ति तथा विविध विभागों के अध्यक्षों की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है।[54] इसके अतिरिक्त पुरोहित, सेनापति, सर्वार्थ-चिन्तक, ग्रामपति आदि अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी थे जिनकी नियुक्ति का विवरण मनुस्मृति में प्राप्त होता है। पुलिस को "रक्षाधिकृत" कहा गया है।[55]

मनु के अनुसार "अमात्य के अधीन दण्ड, दण्ड के अधीन विनय, राजा के अधीन कोष तथा राज्य और दूत के अधीन सन्धि-विग्रह होते हैं।"[56] मेधातिथि, कुल्लूक, गोविन्द राज तथा भारुचि, "अमात्य" से तात्पर्य सेनापति से लगाते हैं। यहां मनु कौटिल्य के इस मत से भिन्न हैं कि सेना राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में होनी चाहिए।

आर्थिक कर्त्तव्य

प्रशासन संबंधी समस्त कार्यों के लिये धन की आवश्यकता होती है। अस्तु भारतीय विचारधारा में उसके महत्त्व को सदा ही स्वीकार किया गया

है। अर्थशास्त्र में इसे "मूल" कहा गया है।[57] मनु भी इसकी गणना राज्य के सप्तांगों में करते हैं। कहा गया है कि राजा को प्रतिदिन अपनी वित्त व्यवस्था देखनी चाहिए। इसमें आय-व्यय, कोश, खान तथा कर्मान्त की गणना की गयी है।[58] मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने "कर्मान्त" का अर्थ कर, शुल्क आदि किया है।[59] दूसरे शब्दों में इससे तात्पर्य राज्य की आय तथा उसके वसूल करने के स्थान से है। राजा के आठ प्रकार के कर्मों में "अदान" अर्थात् कर-संग्रह भी बताया गया है।[60] कहा गया है कि धन-धान्य का संग्रह करने में पवित्र तथा उच्च कुलागत अमात्यों की ही नियुक्ति किया जाना चाहिए ताकि कोई गड़बड़ी न हो सके।[61]

राजा का एक प्रमुख कार्य आर्थिक जीवन की व्यवस्था करना भी था। चूंकि आर्थिक जीवन का संचालन वैश्य करते थे अतः आग्रह किया गया है कि राजा इनकी रक्षा करे।[62] आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से मनु ने आठ प्रकार के कार्य बताये हैं। टीकाकार नन्दन ने कामन्दक का उद्धरण देते हुए इन कार्यों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है-

(1) कृषि

(2) व्यापार -पथ

(3) दुर्ग

(4) सेतु

(5) हस्तिबन्ध अर्थात् हाथियों को पकड़ना

(6) बन

(7) खानों से वस्तु प्राप्त करना तथा

§8§ सैनिक छावनी बसाना।[63]

मेधातिथि ने इनके तीन विकल्प बताये हैं। इनमें से एक आर्थिक कार्यों से ही संबंधित हैं जहां उशनस् का उदाहरण दिया गया है। केवल छावनी के स्थान पर नई बस्ती बसाना §शून्यानाम् निवेशनम्§ बताया गया है।[64] राजा के व्यापार संबंधी कार्य भी विविध प्रकार के कहे गये हैं। तदनुसार उसे प्रत्येक पाँच या पन्द्रह दिन बाद वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना चाहिए, बाट-माप पर मुहर लगानी चाहिए तथा छः छः माह बाद उनका पुनर्परीक्षण करना चाहिए।[65] जो व्यापारी मिलावटी वस्तुओं की विक्री करते थे राजा को उन्हें दण्डित करना था।[66] राज्य में उत्पादित अच्छी वस्तुओं के अनावश्यक निर्यात की मनाही की गयी है। मेधातिथि अच्छी वस्तुओं का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि "हाथी कश्मीर में, कुमकुम §केसर§ पूर्व में, अच्छे वस्त्र तथा अन्न पश्चिम में, अश्व तथा मणिमुक्ता दक्षिण में, आदि।[67] इसी प्रकार निर्यात के लिये जो वस्तुएं निषिद्ध थी उनमें दुर्भिक्षादि के समय अन्न, पशुओं की उन्नति के लिये गाय, बैल, भैंस आदि को शामिल किया गया है। राज्य को बाजारों का संघटन एवं संचालन भी करना था। इस प्रकार राजा व्यापार -वाणिज्य की गतिविधियों को नियंत्रित किया करता था।

आर्थिक विकास के अन्य साधन, जैसे- कृषि एवं पशुधन हैं और इनकी भी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य बनता था। वृक्षों तथा वनस्पतियों की रक्षा करने की बात भी कही गयी है। राजा द्वारा तालाब, कुएँ, बावड़ी,

पोखर, मंदिर भी बनवाये जाने चाहिए तथा सिंचाई के साधनों को क्षति - ग्रस्त करने वालों को दण्डित भी किया जाना चाहिए।[68] उसका यह देखना भी कर्त्तव्य बनता था कि खेतों के बीज शुद्ध हों। बीजों को शत्रुतावश नष्ट करने वालों को कठोर दण्ड दिये जाने की व्यवस्था की गयी है।[69] राजा का यह भी कर्त्तव्य था कि वह श्रमिकों की मजदूरी निर्धारित करे।[70]

धार्मिक कार्य-

इसके अन्तर्गत पुरोहित तथा ऋत्विक् की नियुक्ति का उल्लेख किया जा सकता है। वे राजा के लिये गृह्य कर्म (शान्तिकर्म) तथा यज्ञ कर्म करते थे।[71] राजा का कर्त्तव्य था कि वह विविध श्रौत यज्ञों को करता रहे।[72] मेधातिथि इन यज्ञों में पुण्डरीक, गोविन्दराज पुण्डरीक एवं अश्वमेध तथा कुल्लूक अश्वमेधादि की गणना करते हैं। प्राचीन भारत में इन्हें प्रभुसत्ता का प्रतीक माना जाता था जिनके द्वारा राजा चक्रवर्ती पद प्राप्त करता था। यह भी कहा गया है कि राजा को ऋत्विक् तथा पुरोहित से विवाद नहीं करना चाहिए।[73] सभा में प्रवेश करने से पूर्व राजा को अग्नि में हवन तथा ब्राह्मणों की पूजा करने को कहा गया है।[74] एक स्थान पर ब्राह्मणों को राजा की "अक्षयनिधि" कहा गया है। राजा को प्रातः काल उठकर त्रिवेदों के ज्ञाता तथा विद्वान् ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए तथा उनके शासन में रहना चाहिए।[75] उसे न केवल धर्म का पालन करना है अपितु दूसरों से कराना भी है। राजा को धर्म का अग्रभाग अर्थात् उसका रक्षक और संस्थापक बताया गया है।[76]

सैनिक कर्त्तव्य

मनु ने राजा के सैनिक कार्यों एवं कर्त्तव्यों का भी विवरण प्रस्तुत किया है। "राजा को अलब्ध को दण्ड के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए।[77] कुल्लूक तथा गोविन्दराज इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं "उसे हस्ति, अश्व, रथ, पैदल आदि अपनी सेना के द्वारा अविजित राज्यों को जीतना चाहिए।" यह भी बताया गया है कि राजा सदा अपनी सेना को तैयार रखे क्योंकि जिसकी सेना सदा तैयार रहती है समस्त संसार उससे डरता है। राजा के दैनिक कार्यक्रम में दोपहर के विश्राम के पश्चात् उससे सैनिक तथा उनके साज-सामान का निरीक्षण करने के लिये कहा गया है।[78] कहा गया है कि युद्ध आ जाने पर राजा को भागना नहीं चाहिए तथा उसमें विजय प्राप्त करनी चाहिए। यही राजा के लिये परम श्रेयस्कर है। युद्ध में लड़ते हुए जो मारा जाता है वह तत्काल एक यज्ञ पूरा कर लेता है।[79] एक स्थान पर इसे स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा गया है।[80] युद्ध का सर्वोत्तम समय बसन्त अथवा हेमन्त ऋतु को माना गया है। मेधातिथि लिखते हैं कि खड़ी फसलों से लाभ उठाने का यह सबसे अच्छा समय होता है।[81] कुल्लूक ने राजा के अभियान के दो मुख्य लक्ष्य बताये हैं--[82]

(1) शत्रु पर विजय

(2) धन की प्राप्ति ।

मनुस्मृति में कहा गया है कि "राजा सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये के समान शत्रु का नाश करे तथा खरगोश के समान शत्रु के घेरे से

निकल जाय।"[83] उसे अपनी सेना को हृष्ट-पुष्ट जानकर तथा शत्रु सेना को दुर्बल जानकर ही आक्रमण करना चाहिए। उसे मोर्चा बनाकर अपने सैनिकों को उत्साहित करना चाहिए तथा उनकी भली-भाँति परीक्षा करनी चाहिए। मनु राजा को शत्रुओं के साथ कठोर आचरण करने की अनुमति प्रदान करते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि राजा "शत्रु पर घेरा डालकर रहे, उसके राज्य को पीड़ित करे, उसके अन्न-जल, ईंधनादि को नष्ट करे अर्थात् दूषित द्रव्य मिलाकर उपयोग के लिये अयोग्य बना दे, तटाक्, कूप, नहर आदि को नष्ट कर दे, नगर के परकोटे को तोड़ दे, खाई की मिट्टी आदि से भरकर सुखा दे। शत्रु के दयादों या मन्त्री आदि को अपनी ओर मिला ले।"[84] राजा को सलाह दी गयी है कि वह अचानक युद्ध प्रारम्भ न करे क्योंकि यह अन्तिम अस्त्र है। इसके पूर्व उसे सामादि उपायों का अवलम्बन कर शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जब सभी उपाय निष्फल हो जाय तभी आक्रमण करना चाहिए।[85]

प्रबुद्ध कार्य-

इसके अन्तर्गत शिक्षा तथा संस्कृति को प्रोत्साहन देना था। शिक्षा के माध्यम से ही समाज में धर्मपालन सुनिश्चित किया जा सकता है। मनु शिक्षा के विषय में तो राजा का कोई स्पष्ट कार्य निर्देशित नहीं करते। मात्र यही बताया गया है कि जिन ब्राह्मणों ने गुरूकुल की शिक्षा समाप्त कर ली हो उनकी तथा श्रोत्रियों की राजा को सहायता करनी चाहिए तथा उनकी जीविका निश्चित कर देनी चाहिए।[86] तदनुसार राजा

"वेदाध्ययन के पश्चात् गुरूकुल से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले ब्राह्मणों की पूजा करे क्योंकि यही ब्राह्मण राजा का अक्षय निधि कहा गया है। अग्निहोत्रादि कर्म की अपेक्षा ब्राह्मण को दान देना श्रेष्ठ होता है। विद्वान् ब्राह्मण को दिया गया दान लाखगुने फलवाला तथा समस्त वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण को दिया गया दान अनन्त फलवाला होता है।"[87] आग्रह किया गया है कि अत्यन्त निर्धन राजा भी श्रोत्रिय से कर न ले तथा ऐसी व्यवस्था करे कि श्रोत्रिय भूख से पीड़ित न हो। वह श्रोत्रिय के शास्त्र और आचरण का विचार कर उसे जीविका प्रदान करें तथा अपने औरस पुत्र के समान उसकी रक्षा करे। मेधातिथि, गोविन्द तथा कुल्लूक के अनुसार चौरादि से उसकी रक्षा की जानी चाहिए। यह बताया गया है कि राज्य द्वारा सुरक्षित होने पर श्रोत्रिय प्रति दिन जिस धर्म को करता है उससे राजा की आयु, धन तथा राज्य की वृद्धि होती है।[88] अन्यत्र वर्णित है कि सुरक्षित ब्राह्मण के धर्म के छठां भाग राजा को ही मिलता है। इस प्रकार ब्राह्मणों का सम्मान, उनके ज्ञान तथा विद्वता के कारण था। वे राजा तथा प्रजा को धर्म की शिक्षा देते थे। धर्म की स्थापना में वे सहायक थे।[89] शिक्षा एवं संस्कृति के संबर्धन का दायित्व उन्हीं पर था। अतः आवश्यक ही था कि सब प्रकार से उनके मान-सम्मान, रक्षण एवं पोषण की व्यवस्था की जाय।

मनु तथा उनके भाष्यकारों के विवरण से स्पष्ट है कि राजा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक था और इसके अन्तर्गत प्रायः सभी प्रकार की गति-विधियां आ जाती थी। दो स्थानों पर सार रूप में राजा के समस्त

कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। राजा के दैनिक कार्यक्रम के प्रसंग में वर्णित है कि "मध्य दिन में या आधी रात में, विश्रान्ति तथा स्वस्थ स्थिति में, उन मंत्रियों अथवा उनमें से किसी एक के साथ धर्म, अर्थ, काम का विचार करे और परस्पर विरोध की दशा में उनकी प्राप्ति का तथा कन्याओं के विवाह और कुमारों की रक्षा का, दूतों को भेजने तथा (प्रारंभ किये गये) कार्यों के शेष (अंश) की पूर्ति) और अन्त:पुर की गतिविधि तथा गुप्तचरों की चेष्टा का एवं सम्यक् रीति से आठ प्रकार के कार्यों तथा पांचों वर्ग (के गुप्तचरों) और (राजा के प्रति अमात्य-प्रजा आदि के) प्रेम और द्वेष का तथा मण्डल की गतिविधियों का, राजा सावधानी पूर्वक विचार करे।"[90] इस विवरण में राजा की आन्तरिक स्थिति का नियंत्रण (प्रेम-द्वेष), राज-परिवार की व्यवस्था, गुप्तचर, पुरुषार्थ, वाह्य संबंध आदि सभी शामिल हैं। नवें अध्याय में राजा के विविध कार्यों का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

"राजा धर्मानुसार कार्य करते हुए अप्राप्त देशों को प्राप्त करने की इच्छा करे तथा प्राप्त का ठीक से पालन करे। सम्यक् रूप से देश बसाकर तथा शास्त्रानुसार दुर्ग का निर्माण कर कण्टकों के उन्मूलन का प्रयत्न करे। जो राजा तस्करों का नियंत्रण किये बिना कर लेता है उसका राज्य क्षुब्ध हो जाता है तथा वह स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करता।"[91] यहां भी राजा के विविध कार्यों को समाहित कर लिया गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राजा का प्रधान कार्य समाज के भीतर के प्रत्येक क्षेत्र की अव्यवस्था को रोक कर उसमें व्यवस्था स्थापित

करना था। इसी में समाज, उसके व्यक्तियों और उनकी सम्पत्ति की रक्षा आ जाती थी। इसी के अन्तर्गत न्याय-कार्य, परराष्ट्र संबंध, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, व्यक्ति को सामाजिक भावना के अनुसार व्यवहार करवाना तथा समाज का पोषण करना इत्यादि सभी क्रिया-कलाप सम्मिलित थे। किन्तु मनु का राजा न तो सर्वग्रासी है और न ही मनुष्य के ऊपर सर्वांगीण अधिकार रखता है। उसे स्वयं व्यवस्था के निर्माण अथवा कार्यों के संचालन का अधिकार नहीं है। उसे तो केवल व्यवस्था लागू करने तथा यह देखने का काम है कि सब लोग ठीक से कार्य करें। इस प्रकार मनु व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिये पर्याप्त आधार प्रस्तुत करते हैं।

राजा की निरंकुशता पर रोक -

मनु का राजा विशिष्ट अधिकार तथा सुविधाओं से युक्त होने के बावजूद भी मनमानी आचरण का अधिकार नहीं रखता। उसके ऊपर आन्तरिक और वाह्य नियंत्रण स्थापित किये गये हैं। आन्तरिक नियंत्रण से राजा को स्वत: नियंत्रण करने को कहा गया है। मनुस्मृति में इन नियंत्रणों के साथ-साथ राजा के लिये इनकी उपयोगिता का भी वर्णन किया गया है। सबसे पहला आन्तरिक नियंत्रण है- शिक्षा विशेषतया वेदशास्त्रों के अध्ययन का। इसका उद्देश्य राजा में धर्म की प्रवृत्ति जागृत करना है। पुन: बताया गया है कि राजा इन्द्रियों को जीतने में सदा प्रयत्नशील रहे क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रखने में समर्थ होता है। वह काम,

क्रोध, लोभ तथा उनसे उत्पन्न व्यसनों से दूर रहे क्योंकि ये उसके जीवन को ही नष्ट कर देते हैं।[92] कहा गया है कि राजा विनयशील हो क्योंकि विनयी राजा कभी नष्ट नहीं होता जब कि विनयशील वनवासी राजा भी राज्य प्राप्त कर लेता है।[93] राजा के ऊपर यश-अपयश का आन्तरिक नियंत्रण स्थापित करने का भी प्रयास किया गयाहै। बताया गया है कि जो राजा अपने देश में न्यायशील है, शत्रुओं को कठोर दण्ड देने वाला है, मित्रों में प्रेम-व्यवहार करने वाला तथा ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील है, उसका यश, शिलोच्छविधि से जीवन यापन करते हुए भी, संसार में उसी प्रकार फैलता है जैसे पानी में डाला गया तेल का बूंद।[94] इसके विपरीत आचरण करने वाले राजा का यश पानी में घृत बिन्दु के समान सीमित हो जाता है। जो राजा सही ढंग से कार्य करता है वह धर्म का भागी होता है।[95] राजा का सबसे बड़ा धर्म प्रजापालन है। यह करते हुए निर्दिष्ट फल का भोक्ता अर्थात् शास्त्र द्वारा निश्चित कर वेतन के रूप में लेने वाला राजा धर्म को प्राप्त होता है।[96] विवादों में अन्याय होने पर उनके पाप का चौथा भाग भी राजा को मिलता है, किन्तु यदि अपराधी को उचित दण्ड मिलता है तो पापकर्त्ता ही पापभागी होता है।[97] इस धर्म-अधर्म का फल राजा को स्वर्ग-नरक रूप में प्राप्त होना बताया गया है तथा इस तथ्य का व्यक्ती-करण भी राजा को नियंत्रित करने के लिये किया गया है। तदनुसार जो राजा प्रजा की रक्षा किये बगैर ही बलि, कर, शुल्क तथा प्रतिभाग लेता है वह शीघ्र ही नरक को जाता है।[98] ऐसा राजा सब पापों का हरण

करने वाला होता है। शास्त्र मर्यादा को न मानने वाले, नास्तिक, अनु - चित दण्ड आदि से धन लेने वाले, रक्षा न करने वाले तथा [कर, बलि आदि का] भोग करने वाले राजा की अधोगति जाननी चाहिए।[99] इसके विपरीत शास्त्रोक्त ढंग से धन लेने, सजातीय संबंध रखने तथा दुर्बलों की रक्षा से राज्य की शक्ति बढ़ती है तथा इस लोक और परलोक दोनों में उसकी उन्नति होती है।[100] इसी तरह स्वर्ग-नरक का भय कई स्थानों पर दिखाया गया है। विवादों के वर्णन में यह बात बराबर कही गयी है। आठवें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि " इन सब व्यवहारों का निर्णय कर राजा सभी पापों को दूर कर परमगति को प्राप्त करता है। इन्द्रपद, अक्षय पद तथा अव्यय यश को चाहने वाला राजा क्षणमात्र भी साहसिकों की उपेक्षा न करें।"[101] अन्यत्र अधर्म का फल तत्काल नाश बताया गया है।[102]

राजा की निरंकुशता पर रोक संबंधी बाह्य नियंत्रणों में सर्वप्रमुख समाज व्यवस्था का नियंत्रण है। समाज व्यवस्था के अनुसार ही शासन चलाना राजा का कर्त्तव्य है। वह स्वयं न तो समाज व्यवस्था के नियम बना सकता है और न ही, विशेष परिस्थितियों के सिवाय, उनमें कोई परिवर्तन ही कर सकता है। राज्य का पालन भी वह उसी पद्धति से करता है जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है। धर्म के विषय में शंका होने पर उसका निवारण शिष्ट ब्राह्मणों को करना है, राजा को नहीं। इस प्रकार राजा पूर्णतया समाज -व्यवस्था से बंधा हुआ है। दूसरा नियंत्रण दण्ड का बताया

गया है। यह दण्ड अच्छे राजा के लिये तो सहायक है किन्तु दुर्गुणी एवं अधर्मी को नष्ट कर देता है। राजा के लिये सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा हजार गुना अधिक दण्ड का विधान किया गया है।[103] राजा पर ब्राह्-मणों का भी नियंत्रण स्थापित किया गया है।[104] मंत्रियों के विषय में कहा गया है कि राजा एक विशिष्ट तथा विद्वान् ब्राह्मण मंत्री के साथ प्रमुख मन्त्रणा करे तथा उस पर पूर्ण विश्वास कर उसे सब कार्य सौंप दे और उसके साथ निर्णय कर बाद में कार्य आरम्भ करे।[105] यह कुछ सीमा तक ब्रिटेन या भारत के प्रधानमंत्री की स्थिति का सूचक है। अन्तत: सबसे बड़ा नियंत्रण प्रजा का बताया गया है। यह अनेकश: वर्णित है कि जो राजा अपनी प्रजा का उत्पीड़न करता है उसकी प्रजा उसे नष्ट कर देती है।[106]

घोषाल,[107] लिंगाट[108] तथा वी०वी० देशपाण्डे[109] जैसे विद्वानों का विचार है कि मनु तथा अन्य शास्त्रकारों ने अत्याचारी राजा की हत्या करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही प्रदान किया है। एच०एन० सिनहा[110] के अनुसार ब्राह्मण ही इसका दैवी अधिकार रखते थे। किन्तु इन विद्वानों ने संबंधित पंक्तियों के पूरे महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया है। मनुस्मृति तथा महाभारत में कुछ स्थानों पर ब्राह्मण तथा राजा को समकक्ष बताया गया है,[111] जबकि कुछ उल्लेखों में ब्राह्मण को राजा के अधीन मानते हुए उसके लिये दण्ड का भी विधान किया गया है। कात्यायन तथा कौटिल्य जैसे लेखक तो ब्राह्मण के लिये मृत्यु दण्ड तक का विधान करते हैं। मनु भी ब्राह्मण अथवा गुरू को अततायी होने की दशा में मार डालने का उल्लेख

करते हैं। इसके विपरीत अततायी राजा के बध का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसके पीछे राजा का शक्ति-सम्पन्न होना ही कारण था। शक्ति धारण करने के कारण राजा के ऊपर ब्राह्मण की प्रभुता सीमित हो गयी और इसीलिये उसके अततायी होने की स्थिति पर शास्त्रकारों ने विचार नहीं किया। निरंकुश या अत्याचारी राजा का बध अकेले ब्राह्मणों के वश की बात नहीं थी। इसके लिये उन्हें जनता के खुले एवं सक्रिय सहयोग की आवश्यकता थी। ब्राह्मणों का कार्य प्रजा के विद्रोह को संगठित करना एवं उसे नेतृत्व प्रदान करना मात्र था।[112]

क्या नियंत्रण संवैधानिक है?

मनुस्मृति में उल्लिखित राजा की निरंकुशता पर नियंत्रणों को देखने के उपरान्त यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इन्हें संवैधानिक कहा जा सकता है? चूंकि मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्र, जिन्हें भारतीय विचारों के अनुसार प्रस्थापित राज्यों का संविधान ही कहा जा सकता है, में इनका उल्लेख किया गया है, अत: वाह्य नियंत्रणों को संवैधानिक ही कहा जा सकता है। वस्तुत: वे नियंत्रण ही सार्थक होते हैं जिनके विषय में शासन-कर्त्ता के मन में यह धारणा बन जाय कि उन्हें स्वीकार करना ही है। अथवा जिनके विषय में ऐसा वातावरण बना हो कि उन्हें तोड़ने पर जन-मानस उसके विरुद्ध हो जायेगा तथा उसका विनाश कर देगा। इसके विपरीत आधुनिक संवैधानिक नियंत्रणों में भी यदि कोई शासक उनका मनमानी उपयोग करना चाहे तो ये भी निरर्थक सिद्ध होंगे यदि उसमें प्रजा हित की चिन्ता न हो।

इस प्रकार यह सही है कि मनु के राजा में दैवी अंश विद्यमान हैं, वह राज्य की प्रकृतियों में सर्वप्रथम है, उसकी रक्षा की विशेष व्यवस्था है तथा प्रजा को उसके आदेशों का पालन करना है तथापि उस पर नियंत्रण स्थापित किये गये हैं और ये स्वेच्छा पर आधारित नहीं अपितु संवैधानिक हैं। राजा के विशेषाधिकार तथा उसकी सीमाओं का साथ-साथ वर्णन करना परस्पर विरोधी बातें नहीं कही जा सकती।[113]

अधिकारी तथा कर्मचारी

राजा प्रशासनिक कार्यों में अधिकारियों एवं कर्मचारियों के एक बड़े वर्ग से सहायता प्राप्त करता था। मनुस्मृति में कहा गया है "सरल कार्य भी एक आदमी के लिए कठिन होता है, विशेषकर महान् फल देने वाला राज्य असहाय (अकेले राजा) से कैसे सुसाध्य हो सकता है।"[114] इसी बात को दण्ड के प्रसंग में कहा गया है कि "बिना सहायक के राजा दण्ड का न्यायपूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता। जिसके अच्छे सहायक हैं, उसी के द्वारा दण्ड का प्रयोग उचित ढंग से किया जा सकता है।"[115] अन्यत्र वर्णित है कि 'दण्ड का प्रयोग अमात्य के अधीन है तथा दण्ड से ही सबको नियंत्रण में रखा जा सकता है।'[116] इन विवरणों से स्पष्ट है कि कौटिल्य के समान मनु भी राजा की सहायता अथवा राज्य के सुसंचालन के लिये मंत्रियों एवं कर्मचारियों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। मनु अमात्य, सचिव तथा मन्त्री, तीनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। यद्यपि इन तीनों शब्दों के प्रयोग अधिकांशत: समान अर्थ में ही किया गया है तथापि कुछ

स्थानों पर इनमें अन्तर भी परिलक्षित होता है। अर्थशास्त्र,[117] मनुस्मृति[118] तथा कामन्दक नीतिसार[119] में अमात्य और सचिव शब्द का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। रुद्रदामन् के जूनागढ़ लेख में भी सचिव और अमात्य को एक दूसरे का पर्याय माना गया है।[120] अर्थशास्त्र में अमात्यों एवं मंत्रियों में अन्तर करते हुए मंत्रियों को अमात्यों की अपेक्षा उच्चतर पदाधिकारी माना गया है।[121] रामायण में भी अमात्य एवं मंत्री में अन्तर बताया गया है।[122] ऐसा लगता है कि अमात्य या सचिव एक व्यापक संज्ञा थी जिससे प्रशासन के विशिष्ट पदाधिकारियों का बोध होता था। इन्हीं में से सबसे योग्य को मंत्री नियुक्त किया जाता था। सचिवों की संख्या सात या आठ बताई गयी है जिन्हें अन्यत्र "मंत्री" कहा गया है।[123] मंत्रियों की अल्प संख्या के विषय में लिखते हुए मेधातिथि कहते हैं कि "इससे सहमति रहती है तथा राजमंत्र गुप्त बना रहता है। इसके विपरीत अधिक मंत्रियों के होने पर मंत्रभेद हो जाता है।" अतः इनकी संख्या इतनी ही बताई गयी है।[124]

मन्त्रियों की योग्यता-

मनु मंत्रियों की योग्यता निर्धारित करते हैं। तदनुसार ये कुलीन, शास्त्रज्ञ, अपने उद्देश्य को पूरा करने में कुशल अथवा शस्त्र प्रयोग में कुशल, शूर तथा पिता-पितामह के समय से आये हुए होने चाहिए।[125] बताया गया है कि इन्हें "परीक्षित" भी होना चाहिए। "परीक्षित" से तात्पर्य मेधातिथि के अनुसार यह है कि ये धर्म, अर्थ, काम आदि प्रलोभनों द्वारा

शुद्ध किये गये हों।[126] गोविन्दराज लिखते हैं कि गुप्तचरों द्वारा उनकी परीक्षा की जानी चाहिए।[127] कुल्लूक का मत है कि देवताओं की प्रतिमाओं के स्पर्श द्वारा उनकी सत्यनिष्ठा परखी गयी होनी चाहिए।[128] भारुचि लिखते हैं कि कार्य करने में जो शरीर, पत्नी, पुत्र, धनादि से जो निरपेक्ष हों उन्हीं को मंत्री बनाना चाहिए।[129]

उल्लेखनीय है कि मनु मंत्रियों की आवश्यकता तथा उनकी योग्यता का जो विवरण प्रस्तुत करते हैं उनका उल्लेख अन्य शास्त्रकारों ने भी किया है। महाभारत में कहा गया है कि राजा अपने मन्त्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर तथा स्त्रियां अपने पतियों पर।[130] अर्थशास्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना मन्त्रियों की सहायता से राज्य नहीं चल सकता।[131] शुक्र लिखते है कि "योग्य राजा भी सब बातें नहीं समझ सकता, पुरुष-पुरुष में बुद्धि वैभव अलग-अलग होता है, अतः राज्य की उन्नति चाहने वाला राजा योग्य मंत्रियों को चुने अन्यथा राज्य का पतन निश्चित है।"[132]

जहां तक मंत्रियों की योग्यता का प्रश्न है हम देखते हैं कि उच्चकुलीनता एवं आनुवंशिकता पर सभी विचारक बल देते हैं। कौटिल्य के अनुसार अमात्य देश के निवासी, उच्च-कुलोत्पन्न, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, प्राज्ञ, मेधावी, निर्भीक, वाग्मी, चतुर, तीव्र-मति, उत्साही,

प्रभावशाली, कष्ट-सहिष्णु, पवित्र आचरणवाला, स्नेही, स्वामी के प्रति निष्ठावान्, शीलवान्, बलवान्, निरोग, धैर्यवान, गर्वरहित, स्थिर-मति, दीर्घसूत्रता से रहित, सौम्य आकृति एवं शत्रुत्वभाव से रहित होना चाहिए।[133] ये विशेषतायें केवल आदर्श स्वरूप ही नहीं थी, बल्कि व्यवहार में इनका पालन भी किया जाता था। उदयगिरि गुहाभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के सन्धि-विग्रहिक वीरसेन "शाब" को "अन्वयप्राप्त साचिव्य" अर्थात् वंश परम्परा से सचिव पद प्राप्त करने वाला बताया गया है।[134] करमदण्डा लेख से सूचित होता है कि पृथ्वीषेण के वंश में मंत्रिपद कई पीढ़ियों से चला आ रहा था।[135] परिव्राजक राज्य में 482 ई0 में सूर्यदत्त नामक व्यक्ति मंत्री पद पर था तथा उसे 28 वर्ष बाद उसका पुत्र विभुदत्त उसी पद पर कार्यरत था।[136] उच्चकल्प वंश के शासन में हम पाते हैं कि विदेश सचिव गल्लु की मृत्यु के बाद उसके भाई मनोरथ ने वह पद प्राप्त कर लिया।[137] स्कन्दगुप्त कालीन जूनागढ़ लेख से पता चलता है कि नगरपति चक्रपालित 'क्षमा, प्रभुत्व, विनय, नय, शौर्य, वीरों के प्रति आदरभाव, दक्षता, संयम, दान, विशालता, सौंदर्य, अनौचित्य पर निग्रह अविस्मय, धैर्य एवं उदारता' जैसे गुणों से सम्पन्न था।[138] इस प्रकार मनु द्वारा उल्लिखित अमात्यों के गुण एवं विशेषताएं विभिन्न कालों के मन्त्रियों एवं पदाधिकारियों में दिखाई देती है।

मन्त्रिपरिषद् का गठन-

मनु एक स्थान पर मन्त्रियों की संख्या सात या आठ बताते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशासन में ये प्रथम श्रेणी के अधिकारी होते थे।

इनमें से एक आमात्य मुख्य अथवा प्रधान मंत्री चुना जाता था। वह अन्य सभी में विशिष्ट तथा विद्वान् होता था। मेधातिथि उसकी विद्वता से तात्पर्य अर्थशास्त्र अर्थात् राजनीति शास्त्र का ज्ञाता होना बताते हैं क्योंकि कहा गया है कि षड्गुणों से संबंधित विशेष परामर्श राजा उसी से करे, उसी से परामर्श कर शासन संबंधी समस्त कार्य प्रारम्भ करे तथा निश्चिन्त होकर सभी कार्यों को उसी पर छोड़ दे।[139] उसे सत्कुलोत्पन्न, धर्मज्ञ, बुद्धिमान तथा इन्द्रिय निग्रही होना बताया गया है तथा कहा गया है कि असमर्थ हो जाने पर राजा अपने सभी कार्यों का भार उसी पर डाल दे।[140] मनु मुख्यमन्त्री का पद ब्राह्मण के लिये आरक्षित करते हैं।[141]

मनुस्मृति में मन्त्रियों के साथ परामर्श योग्य विषयों की भी सूची दी गयी है। तदनुसार "सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति तथा मिले हुए धन का उपयोग " के विषय में राजा को मन्त्रियों के साथ चिन्तन करना चाहिए।[142] इनमें स्थान का अर्थ मेधातिथि तथा कुल्लूक ने दण्ड, कोष, पुर तथा राष्ट्र बताया है। ये वे प्रकृतियां हैं जो स्थिर रहती हैं। धान्य तथा सुवर्ण आदि खनिजों की उत्पत्ति के स्थान को "समुदय" तथा आत्म-रक्षा एवं राष्ट्र रक्षा को गुप्ति कहा गया है। लब्ध प्रशमन से तात्पर्य मिले हुए धन का सत्कार्यों में व्यय तथा रक्षण बताया गया है। कहा गया है कि राजा मंत्रियों से उनकी राय अलग-अलग अथवा सम्मिलित रूप से ज्ञात कर राज्य के सभी कार्यों को अपने अनुकूल करे।[143] राजा के दैनिक कार्यक्रम के संबंध में बताया गया है कि यदि राजा चाहे तो मंत्रियों के साथ धर्म, अर्थ

तथा काम का चिन्तन करे।[144] प्रथम श्रेणी के मन्त्री केन्द्रीय प्रशासन में रखे जाते थे। मनु के विवरण से स्पष्ट है कि मन्त्रिपरिषद् मात्र सलाहकारी संस्था थी जिसके निर्णय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिये राजा स्वतंत्र था।

अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी-

राजा के सहायकों की दूसरी श्रेणी ग्रामों तथा नगरों के सचिवों अथवा अधिकारियों की थी। बताया गया कि राजा एक-एक, दस-दस, बीस-बीस, सौ-सौ तथा हजार-हजार गाँवों का एक -एक अधिपति नियुक्त करे।[145] इन्हें क्रमश: ग्रामिक, दशेश, विंशी, शतेश तथा सहस्रपति कहा गया है। प्रत्येक नगर में "सर्वार्थचिन्तक" नामक पदाधिकारी होता था जिसे नक्षत्रों में शुक्रादि,ग्रहों के समान तेजस्वी कहा गया है।

अधिकारियों की तीसरी श्रेणी उन अमात्यों की है जिन्हें टीकाकार कुल्लूक 'कर्म सचिव' कहते हैं।[146] इनकी संख्या आवश्यकतानुसार कही गयी है। तदनुसार " इस राजा का कार्य जितने मनुष्यों से पूरा हो, आलस्यरहित, काम करने में उत्साही तथा काम के जानकार उतने ही मनुष्यों को नियुक्त करे।"[147] इनके गुण भी सचिवों जैसे ही बताये गये हैं, यथा- शुद्ध, बुद्धिमान, स्थिरमति, सब प्रकार से धनधान्य उत्पन्न करने में दक्ष , तथा सुपरीक्षित। कहा गया है कि उनमें से शूरवीर, उत्साही, कुलीन को धनधान्य संग्रह में, शुद्ध चित्त वालों कोकारखानोतथा उत्पादन केन्द्रों पर

तथा भीरु को अन्त:पुर में नियुक्त करना चाहिए।[148] ये अमात्य घूस आदि लेकर या किसी अन्य लोभ से गलत काम करें तो इन्हें दण्डित करने का विधान भी मिलता है।[149]

उपर्युक्त पदाधिकारियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अध्यक्षों को नियुक्त करने की बात भी कही गयी है जिनका कार्य राजा के समस्त कार्यों को देखना था। यह राजा के पदाधिकारियों की चौथी श्रेणी थी। इन्हें सेना, अर्थसंग्रह आदि स्थानों में नियुक्त किया जाता था और ये वहां कार्य करने वाले मनुष्यों का निरीक्षण करते थे। मेधातिथि तथा भारुचि ने इन्हें "अमात्यगुण सम्पन्न" बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके साथ-साथ अन्य अनेक कर्मचारिरी भी रहे होंगे क्योंकि एक स्थान पर बताया गया है कि राजा सब भृत्यों को सबके हित के कार्य में लगावे।"[150] भृत्यों से तात्पर्य सामान्य कर्मचारियों से लगता है। राजकीय कर्मचारियों के लिये "युक्त" तथा उच्च विभागीय अधिकारियों के लिये "महामात्र" शब्द का प्रयोग मिलता है।[151] उल्लेखनीय है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी युक्त नामक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है तथा अशोक के लेखों में भी युक्त शब्द आता है।[152] उस समय वे जिले के अधिकारी थे। मौर्य शासन में प्रमुख अधिकारी "महामात्र" कहे जाते थे।

मनु में अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति संबंधी कोई विवरण हमें नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी नियुक्ति का अधिकार राजा को ही था। वरिष्ठ पदाधिकारियों के पद आनुवंशिक होते थे तथा उनकी कुलीनता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

उपर्युक्त कर्मचारियों के साथ-साथ पुरोहित तथा ऋत्विक का भी उल्लेख किया गया है जिनकी नियुक्ति राजा को ही करनी थी। वे राज्य के लिये श्रौत (यज्ञ) तथा गृह्य कर्म करवाते थे।[153] सेनापति तथा बलाध्यक्ष की नियुक्ति का भी उल्लेख मिलता है जो राजा द्वारा सभी दिशाओं में फैलाकर नियुक्त किये जाते थे।[154] कुल्लूक के अनुसार हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल के दश अंगों का स्वामी "पत्तिक" है, दश पत्तियों का स्वामी सेनापति तथा दश सेनापतियों का स्वामी बलाध्यक्ष है।[155] मेधातिथि बलाध्यक्ष से तात्पर्य "समस्त धन का अधिपति" लगाते हैं।[156] गुप्तचर तथा "रक्षाधिकृत" राज्य की रक्षा के लिये नियुक्त किये जाते थे।[157] दूत अथवा राजदूत एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था जिसकी वैदेशिक नीति में विशेष भूमिका होती थी।[158]

मंत्रणा -

मनु मंत्रणा का समय गुप्त रखे जाने पर विशेष बल देते हैं। बताया गया है कि "जिस राजा की मंत्रणा को दूसरे लोग आकर नहीं जानते हैं, कोश विहीन होते हुए भी वह सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।"[159] मन्त्रणा का स्थान पहाड़ पर, महल का एकान्त स्थल, अन्य व्यक्तियों को अज्ञात कोई निर्जन स्थान बताया गया है तथा आग्रह किया गया है कि ऐसे समय में जड़, मूक, बधिर, तिर्यक् योनि में उत्पन्न (सुग्गा, तोता, मैना आदि), अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी तथा विशेषतया स्त्रियों को हटा देना चाहिए क्योंकि इनसे मंत्र भेदन का खतरा रहता है।[160] यह कार्य ऐसे

समय में होना चाहिए जब अन्य लोग न हों, जैसे प्रजाओं से मिलने के उप-रान्त, दोपहर में अथवा आधी रात के समय। कुल्लूक मंत्रणा के पांच अंगों का निर्देश करते हैं- कर्मों के आरम्भ करने के उपाय, पुरुष द्रव्य सम्पत्ति, देशकाल का विभाग, विनीघात का प्रतिकार तथा कार्य सिद्धि।[161] गोविन्द-राज तथा भारुचि भी इसी को दुहराते हैं।

राजा तथा उसकी प्रजा

यद्यपि मनु सर्वशक्तिमान् राजा की कल्पना करते हैं तथापि राजा तथा उसकी प्रजा के बीच संबंध परस्पर सौहार्द पर आधारित है। जहां एक ओर प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा का सम्मान करे तथा उसके द्वारा बनाये गये नियमों का पालन करे वहीं दूसरी ओर राजा से कहा गया है कि वह देवताओं जैसा श्रेष्ठ आचरण करे। बताया गया है कि चूंकि राजा इन्द्रादि सब देवताओं के अंश से रचा गया है, अत: वह अपने तेज से सब जीवों को अभिभूत करता है। समस्त देवताओं के तेज से परिपूर्ण होने के कारण वह इतना महान् है कि कोई भी उसका सामना नहीं कर सकता तथा सब के मन में उसका भय बना रहता है। अस्तु बालक राजा की भी अवमानना नहीं करनी चाहिए।[162] राजा प्रयोजन के अनुसार कार्य तथा शक्ति का वास्तविक विचार कर धर्मसिद्धि के लिये बारम्बार अनेक रूप धारण करता है।[163] इस कथन पर टिप्पणी करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि राजा का न तो कोई मित्र होता है, न शत्रु। बल्कि प्रयोजन के अनुसार राजा शत्रु या मित्रवत् आचरण करता है। जैसे स्वयं असमर्थ रहने

पर क्षमाकर देता है तथा सशक्त होने पर विनाश कर डालता है। अतः अपने को राजा का प्रिय पात्र कभी नहीं समझना चाहिए। कुल्लूक लिखते हैं कि एक ही देश तथा काल में प्रयोजनानुसार राजा शत्रु, मित्र अथवा उदासीन हो सकता है। भारुचि तथा गोविन्दराज भी इसी मत के पोषक हैं कि राजा का कोई प्रिय नहीं होता। उसका व्यवहार सदा समान नहीं रहता। वह विभिन्न कालों स्थानों में विभिन्न कार्यों के लिये तथा अपनी और दूसरे की शक्ति का विचार कर विश्वरूप धारण कर लेता है। अतः राजा जो नियम अपने मित्रों तथा शत्रुओं के लिये लागू करे उसका किसी को उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मेधातिथि इसे कार्यकारी आदेश (कार्यव्यवस्था) बताते हुए इसका उदाहरण देते हैं। जैसे किसी मंत्री या दूसरे प्रिय व्यक्ति के घर में विवाह संस्कार के समय राजा यदि आदेश देता है कि नगर में सार्वजनिक उत्सव मनाया जाय, सभी लोग इस अवसर पर उपस्थित हों, आज सैनिक पशुओं की हत्या न करें, पक्षी न फँसाये जांय, कोई साहूकार कर्जदार को बन्दी न बनाए आदि, तो सभी को इनका पालन करना है। इसी प्रकार शत्रुओं के संबंध में दी गयी राजाज्ञा जैसे "सभी उनका बहिष्कार करें तथा कोई उनके घर न जाय' आदि का भी पालन किया जाना चाहिए।[164] भारुचि, कुल्लूक तथा गोविन्दराज का कहना है कि ये नियम लोकव्यवहार से संबंधित हैं। भारुचि के अनुसार राजा वर्णाश्रम धर्म का प्रवर्त्तक नहीं है अपितु यह शास्त्र द्वारा प्रवर्त्तित है। अतः वे इस विवरण को स्तुतिपरक ही मानते हैं।[165] इन विवरणों में प्रजा से कहा गया है कि वह राजा

को देवता मानकर उसकी पूजा करे। तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजा को मनमाने आचरण की छूट दी गयी है। इसके विपरीत उससे कहा गया है कि वह भी अपने कर्त्तव्यों का ठीक ढंग से निर्वाह करे। सातवें अध्याय में एक स्थान पर कहा गया है कि राजा "मनुष्यों के साथ पितृवत् आचरण करे।[166] नवें अध्याय में राजा को विभिन्न देवताओं के अनुरूप आचरण करने की हिदायत दी गयी है। तदनुसार,

"जिस प्रकार इन्द्र, श्रावण आदि चार मासों में जल वृष्टि करता है उसी प्रकार ऐन्द्रव्रत का पालन करते हुए राजा अपने राज्य में (धन या कृपा) बर्षा करे। मेधातिथि के अनुसार वह वर्ष पर्यन्त प्रजा की भलाई करता रहे जबकि कुल्लूक के अनुसार राज्य में आये हुए साधुसन्तों की कामना पूर्ण करे। जिस प्रकार आठ मासों में सूर्य अपनी किरणों से जल खींच लेता है उसी प्रकार सूर्यव्रती राजा प्रजा से कर ग्रहण करे। कुल्लूक लिखते हैं कि राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर ले जिससे उसे कष्ट न हो। जैसे वायु सब प्राणियों में प्रवेश कर संचरण करता है वैसे ही मरुतव्रती राजा गुप्तचरों द्वारा सब ओर प्रवेश करे। कुल्लूक के अनुसार उसे स्वराष्ट्र तथा पर राष्ट्र की गतिविधियों की जानकारी रखनी चाहिए। जिस प्रकार यमराज समय आने पर प्रिय-अप्रिय सबको मारता है उसी प्रकार राजा यमव्रत का पालन करते हुए अपराध करने पर सभी को समान रूप से दण्डित करे। जैसे पापी लोग वरुण के पाश से बंधे दिखाई देते हैं वैसे ही वरुणव्रत का अनुसरण करता हुआ राजा पापियों का निग्रह करे। जिस प्रकार पूर्णचन्द्र को देखकर सभी मनुष्य

हर्षित होते हैं उसी प्रकार प्रजा के प्रति राजा चन्द्रव्रत धारण करने वाला बने। इस पर कुल्लूक लिखते हैं कि राजा की अमात्यादि प्रकृतियां प्रजा को संतुष्ट करने वाली होनी चाहिए। राजा का अग्नि व्रत यह है कि वह पापियों को दण्डित करने में सदा प्रचण्ड तथा असह्य तेजवाला हो और अपने समीपस्थ दुष्ट कर्मचारियों को दण्डित करने वाला हो। जिस प्रकार पृथ्वी सभी प्राणियों को धारण करती है उसी प्रकार राजा सभी का पालन-पोषण करे- यही उसका पृथ्वीव्रत है।'' मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार राजा दीनों और अनाथों की रक्षा करे तथा धन देकर उनके पोषण की व्यवस्था करे।[167] इस प्रकार राजा की विभिन्न देवताओं से तुलना कर यह बताने का प्रयास है कि वह सही ढंग से अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए शासन करे।

इस प्रकार मनुस्मृति में जहां एक ओर जनता से कहा गया है कि राजद्रोह दण्डनीय अपराध है तथा उन्हें राजा की आज्ञा का पालन करनी चाहिए,[168] वहीं दूसरी ओर राजा से आग्रह है कि वह प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करे तथा उस पर अत्याचार न करे। राजधर्म के वर्णन के प्रारम्भ तथा अन्त में भी बताया गया है कि राजा दण्ड का इस प्रकार प्रयोग करे कि प्रजारंजन हो। तदनुसार शास्त्र के अनुसार विचार कर दिया गया दण्ड सब प्रजाओं को आनन्दित करता है।[169] यह भी कहा गया है कि राजा लोक हित के कार्यों में "सभी भृत्यों को नियोजित करे।"[170] जनता को सन्तुष्ट रखना इतना आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों से यह आग्रह किया गया है (राजा से भी) कि उस धर्म को छोड़ देना चाहिए

जो लोकनिन्दित हो।[171] राजा से यह भी कहा गया है कि वह विजित राज्यों की जनता को भी सब प्रकार से संतुष्ट रखे।[172] यह समझाया गया है कि यदि राजा प्रजा पर उचित ढंग से शासन नहीं करता तो उसके जीवन तथा राज्य दोनों की ही हानि हो जायेगी।[173]

इन विवेचनों से निष्कर्ष निकलता है कि दुर्गुणों से परिपूर्ण , प्रजा पीड़क, सज्जनों का संरक्षण तथा दुष्टों का दमन न कर लेने वाला अर्थात् अपराधियों को दण्ड देने वाला, राज्य में अन्याय करने वाला तथा धर्म का पालन न करने वाला राजा अन्ततोगत्वा प्रजा द्वारा मार डाला जाता है।[174] मनु में यदि कोई लोकतंत्र का तत्व है तो यही है। यहां शिक्षा द्वारा, समाज में धर्म पूर्ण वातावरण तैयार कर, राज्य में धर्मपूर्ण व्यवहार करने का भाव जागृत कर तथा अन्य नियंत्रणों द्वारा उसे संयमित बनाकर ऐसी स्थिति का निर्माण कर दिया गयाहै कि जिसमें शासक प्रजा हित को सर्वोपरि रखे। यही प्राचीन भारतीय विचारकों का भी दृष्टिकोण है।

मनु प्रजा द्वारा राजा की आज्ञा पालन किये जाने के पीछे कारणों पर भी प्रकाश डालते हैं। सर्वप्रथम यह कहा गया कि राजा शक्ति का प्रतीक है। वह क्रुद्ध होने पर न केवल व्यक्ति को अपितु चिरसंचित पशु तथा धन सहित समस्त कुल को ही नष्ट कर देता है। जो कोई अज्ञानता-वश राजा से द्वेष करता है वह निःसन्देह नष्ट हो जाता है क्योंकि राजा उसके विनाश के लिये मन में निश्चय कर लेता है।[175] कुल्लूक लिखते हैं

कि राजाज्ञा के उल्लंघन का यह दृष्टदोष है। परन्तु परोक्ष रूप से राजा की आज्ञापालन का एक कारण यह भी है कि राजा जनभावना के अनुकूल कार्य करता है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम विकास में सहायक है तथा मनुष्य के लिये ऐसी स्थिति का निर्माण करता है कि वह धर्म का पालन कर सके। वह मनुष्य के चरम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में भी सहायक है। अन्ततः राजा ही प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता है तथा न्याय और धर्म की स्थापना करता है।

इस प्रसंग में एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि मनु किस सीमा तक व्यक्ति के अधिकारों तथा उसकी स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। जहां तक राजनैतिक अधिकारों का प्रश्न है मनु उन्हें बिल्कुल मान्यता नहीं देते। व्यक्ति को राजा का चुनाव करने, स्वयं राजपद का उम्मीदवार बनने, मत व्यक्त करने जैसे अधिकार मनुस्मृति में नहीं मिलते। किन्तु जब यह बात अनेकशः दुहराई गयी है कि प्रजा के असंतोष तथा कोप से राजा नष्ट हो जाता है तो यहां यह भाव निहित लगता है कि अन्यायी शासक के विरुद्ध प्रजा को जागृत करने के निमित्त किये जाने वाले प्रयत्नों को मनु प्रच्छन्न अनुमति प्रदान कर देते हैं। यह दिखाई देता है कि दण्ड की शक्ति प्रजा के रोष या असंतोष के माध्यम से प्रकट होती है जिससे प्रजा या उसके प्रतिनिधि, जिसे मेधातिथि 'अपने जीवन से निरपेक्ष कोई साहसिक व्यक्ति' कहते है, अन्यायी या अत्याचारी राजा की जीवन लीला समाप्त कर देता है।

इस प्रकार मनु राजा के अत्याचारों एवं अन्याय के विरुद्ध प्रजा के हितों के सजग प्रहरी है। उनका राजा लोक कल्याण की प्रतिमूर्ति ही है। मनु कौटिल्य के इस राजादर्श को दुहराते हुए प्रतीत होते हैं कि "प्रजा के सुख में राजा का सुख है, उसके हित में उसका हित है। अपना प्रिय करने में राजा का हित नहीं होता बल्कि जो प्रजा को प्रिय हो उसे करने में राजा का हित होता है।" मनु के टीकाकार भी राजा तथा उसके शासन का यही आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1- अर्थशास्त्र 6·1, मनु, 9·294; शान्तिपर्व 69·62-63
   विष्णु, 3·33, याज्ञ0, 1·353, शुक्रनीति0 1·61
2- मनु0, 7·4
3- वही, 7·8
4- वही, 7·111-12
   मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
   सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः।।
   शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
   तथा राज्ञामपि प्राणः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ।।
5- मनु0 भाष्य, 7·111, साहसिकैरेकाकिभिरपि जीवितनिरपेक्षैर्हन्यते ।
6- वर्मा, वी0 पी0: हिन्दू पालिटिकल थाट····· पृष्ठ 259

7- मनु0, 7·40, तुलनीय, दीक्षितार, वी0 आर0 आर0: पुराणिक इन्डेक्स पृष्ठ 216, 322

8- ओम प्रकाश, पूर्वोक्त, पृष्ठ 132

9- मनु0, 4·33, 218, 9·243

10- वही, 8·336

11- वही, 8·318

12- वही, 5·93-97

13- विरजी: ऐन्शेन्ट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, पृष्ठ 62·

14- कादम्बरी, शुकनासोपदेश·

15- डिवाइन राइट आफ किंग्स, पृष्ठ 5-6·

16- मनु0, 1·118

17- वही, 8·41-46

18- वही, 7·80, 135

19- राजा च समः स्यात् ।- भारुचि

20- मेधातिथि, 7·80, करदेष्वन्येषु च स्नेहबुद्ध्या वर्तते-

21- कुल्लूक, 7·80, स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत् स्नेहादिनावर्तते।

22- मनु0, 7·2, ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ।।

23- मनु0, 4·61

24- मेधातिथि, मनुभाष्य 7·2

25- मेधा० 7·43,

दण्डो दमनमित्याहुः येन शक्याः स्वप्रकृतयो विषयवासिनश्चान्यायाकारिणो-

दम्यते स दण्डोऽमात्यादि संयत्

26- गौतम, 11·3, याज्ञ० 1·310

27- मनु०, 7·37-53, 216-26

28- मनुभाष्य, 7·217, परीक्षाकुशलैर्वैद्यैर ग्निचकोरादिभिः कर्त्तव्या।
मन्वर्थमुक्तावली, 7·217
- सविषमन्नं दृष्ट्वा चकोराक्षिणी रक्ते भवतः तिषयहै

मन्त्रैर्पितमन्नमंधात् ।-

29- मनु०, 7·70

30- वही, अल्पोदक तृणोयस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।
सज्ञेयो जाङ्गल देशो बहुधान्यादि संयुतः ।।

31- वही, 7·76

32- वही, 7·35

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनु पूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।।

33- मेधातिथि, 7·2, सर्वस्य करदस्य दीनानाथादेश्च···। परिरक्षणं पालनं।
अपायपरिहारः, दुर्बलानां बलवद्भिरनभिभवः ।

34- मनु०, 8·303-309

35- वही, 7·35

36- मेधातिथि, 7·144, प्राप्तं फलं भुङ्क्ते राजा। स धर्मेण युज्यते ।
अन्यथा अनुग्राहकाणामेव पालनं कुर्वन्प्रत्यवैति।

37- मिताक्षरा, आचार०,अध्याय5·335,

सर्वेभ्योभूमिदानेभ्य: प्रजापरिपालनमधिक फलम् ।

-वही, 5·337,

यस्मादसौराजा रक्षणार्थम् प्रजाभ्य:करान् गृहणाति।

-अपरार्क, याज्ञ0 टीका 1·336- सर्वोहि धनम् प्रयच्छन्नात्मसमवायि

प्रयोजनमुद्दिशति न च करदानस्य स्वगुप्तेरन्यत्प्रयोजनमस्ति, तस्मा-

त्करदानेन प्रजापालनम् विधेयमिति सिद्धम् ।

38- यादव, बी0एन0एस0: सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया

इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी, पृष्ठ 118

39 अ- मनु0, 8·7-8

39 ब- वही, 7·31

40- वही, 7-80

41- वही, 7·41

42- वही, 7·41, 42, 46

43- वही, 8·8

44- वही, 12·108-12

45- वही, 12·113

46- वही, 1·114-118, 7·13, 10·78-79

47- वही, 7·16

48- वही, 8·335, 347

49- वही, 7·140

50- मनु0, 8·173

51- वही, 9·307

52- वही, 9·234

53- वही, 8·127- 28

54- वही, 7·81

55- वही, 9·272

56- वही, 7·65

57- अर्थ0 1·7: अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्य:। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।

58- मनु0 8·419

59- वही, 8·419

60- वही, 7·154

61- वही, 7·62

62- वही, 10·119

63- वही, 7·154

- कृषिर्वणिक पथो दुर्गं सेतु: कुंजरबन्धनम्।

  खन्याकरबनादाने सैन्यानां च निवेशनम्।।

64- वही, 7·154,

आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयो: ।

पंचमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ।।

65- वही, 8·401-3

66- मनु0 8·203, 399

67- वही, 8·139

68- वही, 8·248, 9·279, 281, 285

69- वही, 9·291

70- वही, 8·215-17

71- वही, 7·78

72- वही, 7·79

73- वही, 6·178-79

74- वही, 7·145

75- वही, 7·62,37

76- वही, 11·83

77- वही, 7·101-103

78- वही, 7·222

79- वही, 5·98

80- वही, 7·187-89

81- मेधा0 7·89

82- वही, 7·79

83- वही, 7·106

84- वही, 7·32, 195-97

85- वही, 7·200

86- गरुड़० 7·135

87- वही, 7·82-85

88- वही, 7·133-36; 9·23-24

89- वही, 7·82-88

90- वही, 7·151-154

91- वही 9·251-54

92- वही, 7·43-46

93- वही, 7·39-40

94- वही, 7·32-34, 7·302, 327, 387, 343, 344

95- वही, 7·304

96- वही, 7·144

97- वही 8·18,19,40, 316-17

98- वही, 8·307

99- वही, 8·307-309

100- वही, 8·172

101- वही, 8·343-44

102- वही, 4·172-74

103- वही 8·336

104-वही, 9·320-21

105- वही, 7·58-59

106- वही, 8·346, 174-75, 9·254

107- घोषाल: पूर्वोक्त, पृष्ठ 187

108- लिंगट, आर0: द क्लासिकल ला आफ इण्डिया, पृष्ठ 220 तथा आगे।

109- देशपाण्डे, वी0वी0: पुराण खण्ड 8, पृष्ठ 170-74

110- सिनहा: सावरेन्टी इन एन्शन्ट इण्डियन पालिटी, पृष्ठ 45 तथा आगे

111- मनु0 ,3·119-20, 4·130, 135-36, महा0, 12·60-24

112- ओमप्रकाश ; पूर्वोक्त , पृष्ठ, 126-28

113- ग्रोथ आफ पालिटिकल थाट इन द वेस्ट, 1959, पृष्ठ 364-72

114- मनु0, 7·55

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।

विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोदयम् ।।

(-तुलनीय अर्थशास्त्र, 1·7 मत्स्य, 215·3, विष्णु धर्मोत्तर,

2·24·2-3, शान्ति0,106·11)

115- वही, 7·30-31

116- वही, 7·65

117- अर्थशास्त्र 1·7 एवं 8

118- मनु0, 7·54 एवं 60

119- कामन्दक0, 4·25,27; 13·24 एवं 64

120- एपिग्राफी इण्डिका, खण्ड 16, पृष्ठ 23 तथा आगे

121- वही, 1·8

122- अयोध्या काण्ड 1·2·17

123- मनु0,7·54

124- मेधा0, 7·54 : नियमोऽयं येन चाल्प एकचित्ता भवन्ति ।
ततश्च राजमंत्र उद्घाटित: स्यात्। बहूनापि
मन्त्रभेद:। तस्मादेतावन्त एवं कर्त्तव्या: ।

125- मनु0 7·54

126- मेधातिथि 7·54 धर्मार्थकामभयोपधाभि:। सेयं परीक्षोच्यते।

127- गोविन्दराज, वही, धर्मार्थकामविक्रयेचारप्रयोगादिद्वारेण कृतपरीक्षान्
शुद्धान्·······।

128- कुल्लूक, वही,- विशुद्धकुलभवान्देवताश्पर्शादिनियतानमात्यान्·····।

129- भारुचि, वही- कार्येषु शरीरकलत्रापत्यधनादिष्वपि निरपेक्षो मन्यते···।

130- महा0 5·37·38

131- अर्थशास्त्र, 1·8·1, सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते ।

132- शुक्रनीतिसार,2·81

133- अर्थशास्त्र 1·9

134- अन्वय प्राप्त साचिव्यो व्यावृत सान्धिविग्रहे::···कार्पस0,3 पृष्ठ 34

135- एपिग्राफी इण्डिका,10, पृष्ठ 71

136- कार्पस0 3·, पृष्ठ 104,108

137- वही, पृष्ठ 128

138- वही, पृष्ठ 57; भण्डारकर: इन्स्कृप्शन्स आफ द अर्ली गुप्ता किंग्स,
पृष्ठ 296-305

139- मनु0 7·58-59

140- मनु0, 7·141, 226

141- वही, 12·100

142- वही, 7·56

143- वही, 7·57

144- वही, 7·151

145- वही,7·115,117

146- वही, 7·60

147- वही, 7·61

148- वही,7·62

149- वही, 7·62

150- वही,9·324

151- वही, 8·34,· 9·259

152- अर्थशास्त्र, 2·9, तथा तृतीय शिलाभिलेख.

153- मनु0 7·78

154- वही, 7·189

155- म0मु0 7·189, हस्त्यश्व रथ पदात्यात्मकस्यांगदशकस्यैक:
पति: कार्य: स च पत्तिक उच्यते। पत्तिकदशकस्यैक:
पति: सेनापतिरुच्यते । त दशकस्यैक: सेनानायक:
बलाध्यक्ष: ।

156- वही, समग्रस्य धनस्याधिपतिर्बलाध्यक्ष: ।

157- मनु0, 9·272

158- वही, 7·63

159- वही, 7·148

160- वही, 147,149,150

161- वही, 7·147 कर्मणारम्भोपाय: पुरुष द्रव्यं संपद्देशकालविभागो
विनिपात प्रतिकार: कार्यसिद्धित्येवपंचाग मंत्रं चिन्तयेत्.

162- मनु0, 7·5-6

163- वही, 7·10

164- मेधातिथि, 7·13

165- भारुचि, 7·5-3

166- मनु0, 7·80

167- वही, 9·303-311

168- वही, 7·13

169- वही,7,19

170- वही, 9·324

171- वही, 4·176

172- वही, 7·201-203

173- वही, 7·110-13, 8·174-75, 346; 9·253-54

174- वही, 7·27,28,46; 8·346

175- वही, 7·9,12

176- अर्थशास्त्र, 1·19

-प्रजासुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम् ।

चतुर्थ अध्याय

प्रशासन: केन्द्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय.

प्रशासन

केन्द्रीय:

मनु तथा उनके भाष्यकार प्रशासन के जिस स्वरूप का वर्णन करते हैं वह राजतंत्रात्मक है। इसमें राजा अथवा सम्राट की स्थिति सर्वोच्च होती है।[1] शासन संचालन का अन्तिम उत्तरदायित्व राजा का ही है। बताया गया है कि राजा अपने मंत्रियों के मत को अलग-अलग ज्ञात करे तथा फिर सम्मिलित रूप से ज्ञात करे। तत्पश्चात् जो राज्य के लिये हितकर हो उसी कार्य को प्रारम्भ करे। मुख्य मंत्री के ऊपर पूर्ण विश्वास कर उसे सब कार्य सौंप दे तथा उसके साथ निश्चय कर बाद में कार्य का आरम्भ करे।[2] मेधातिथि लिखते हैं कि कुछ लोग सभा में संकोची प्रवृत्ति के कारण नहीं बोल पाते किन्तु एकान्त में वाक्पटु होते हैं। इसके विपरीत कुछ सभा में ही मुखर रहते हैं। इस कारण सभी के विचार जानना चाहिए। इसके बाद उसे प्रमाण मानकर या अन्य के द्वारा भी उपदिष्ट जो राज्य अथवा स्वयं के लिये श्रेयस्कर हो उसे ही राजा को करना चाहिए।[3] यह भी कहा गया है कि उत्तरकाल, वर्तमान काल तथा अतीत काल के समस्त कार्यों के गुण-दोष को जानने वाला, वर्तमान काल के कार्यों के विषय में शीघ्र निश्चय करने वाला तथा बीते हुए कार्य शेष को जानने वाला राजा शत्रुओं से पराजित नहीं होता।[4] मेधातिथि तथा[5] कुल्लूक[6] लिखते हैं 'भविष्य में जो कार्य किये जाने हैं राजा उनके गुण-दोषों पर विचार करे, वर्तमान

में जो कार्य चल रहा है उसके गुण-दोषों पर विचार कर पूरा करने की चेष्टा करे तथा भूतकाल में जो कार्य हो चुके हैं उनके गुण-दोष अर्थात क्या ठीक हुआ क्या बिगड़ा, क्या पूरा हुआ, क्या बचा, आदि पर विचार कर कार्य आरम्भ करे। इन विवरणों से स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि राजा ही राज्य के छोटे-बड़े सभी कार्यों को सम्पादित करने के लिये अन्तत: जिम्मेदार होता था। दूसरे शब्दों में वह प्रशासन का मुख्य स्रोत था।

मनु प्रकृतियों के वर्णन में एक स्थान पर राजा सहित सभी अंगों को समान महत्त्व देते हैं।[7] आर0एस0 शर्मा[8] इस पर विचार करते हुए लिखते हैं मनु राज्य की स्थिति में एक संक्रमण काल का संकेत करते हैं जिसमें वह महत्त्व-पूर्ण तथा महत्त्वहीन दोनों हो जाता है। "राजा के प्रति दृष्टिकोण में इस परिवर्तन की व्याख्या मौर्योत्तर और गुप्त काल की नई राजनीतिक और प्रशासनिक परिस्थितियों के आधार पर ही की जा सकती है। इस काल में छोटे-छोटे अधीनस्थ राजाओं और सामन्तों का उदय होने लगा था तथा राज्य के यंत्रों का सामन्तीकरण प्रारम्भ हो गया था जिसके फलस्वरूप अन्तत: राजशक्ति का पतन हुआ।" किन्तु यह विचार तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। मनु के विवरण का तात्पर्य यह है कि शरीर के अंगों में कुछ अधिक महत्त्व के हैं तथा कुछ कम। किन्तु कार्य की दृष्टि से सभी का महत्त्व होता है तथा किसी की भी हानि से शरीर को कष्ट पहुंचता है। अत: प्रत्येक अंग के अलग गुण तथा महत्त्व के कारण किसी को भी छोटा या बड़ा नहीं माना जा जा सकता। यही स्थिति राज्य के विभिन्न अंगों की भी है।

मनुस्मृति में राज्य की आन्तरिक तथा वाह्य समस्त गतिविधियों को "कर्म" या "कार्य" नाम दिया गया है। आन्तरिक दृष्टि से इस शब्द का उल्लेख वहां किया गया है जहां राज्य से कुशल अध्यक्षों को "कार्यकरने वाले मनुष्यों को देख भाल करने के लिये नियुक्त करने को कहा गया है।"[9] एक स्थान पर कहा गया है कि शासन के पास कार्य करने के लिये आने वाले लोगों से रिश्वत लेने वाले अधिकारियों को राज्य से निकाल देना चाहिए।[10] इसी प्रकार "कर्म में लगे हुए" कर्मचारियों का वेतन निश्चित करने के लिये राजा से कहा गया है।[11] वाह्य दृष्टि से "कार्य" का प्रयोग षड्गुण के प्रसंग में किया गया है।[12] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अन्तत: राजा को ही शासन के समस्त उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना था। यह ठीक है कि राजा मंत्रियों, अधिकारियों, कर्मचरियों आदि की नियुक्ति करता था तथापि वह विविध कार्यों में उनके साथ परामर्श कर स्वयं भी कार्यों के विषय में विचार करता था तथा अन्तिम निर्णय उसी को लेना होता था। राजा इन अधिकारियों के कार्यों की देखभाल करने के लिये राज्य में परिभ्रमण करता था।[13] राजा का यह कर्त्तव्य था कि अनुचित कार्य करने वाले अमात्य अथवा न्यायाधीश के कार्य को निरस्त कर स्वयं उसे करे तथा उन्हें दण्ड दे। एक स्थान पर कार्य के लिये उद्यत राजा की तुलना त्रेता तथा कार्य करते हुए विचरण करने वाले राजा की तुलना कृतयुग से की गयी है।[14] इस प्रकार शासन के समक्ष क्रिया कलापों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व राजा का ही माना गया है।

सामन्त-

मनुस्मृति में कुछ स्थानों में "सामन्त" शब्द का उल्लेख मिलता है।[15] मेधातिथि, कुल्लूक आदि इसका अर्थ "पड़ोसी "अथवा अमात्य लगाते हैं। शर्मा के अनुसार मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में "सामन्त" शब्द का प्रयोग पड़ोसी भूस्वामियों के अर्थ में किया गया है।[16] बी0एन0 दत्त इसे सरदार के अर्थ में ग्रहण करते हैं।[17] दक्षिण-पश्चिम भारत में पांचवीं शती के तृतीय चरण से लेखों में सामन्त शब्द का प्रयोग सरदार के अर्थ में ही मिलता है। कुछ दानपत्र भी इसका उल्लेख करते है।[18] धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग पराजित सरदारों के अतिरिक्त राज्याधिकारियों के लिये भी होने लगा। इस सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता कि मनु के समय में प्रशासन में सामन्तों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी। उल्लेखनीय है कि मौर्योत्तर काल से ही हमें प्रशासन में सामन्तवाद का अंकुरण दिखाई देने लगता है। शक-कुशाण काल में सामन्तवाद के न केवल राजनीतिक वरन आर्थिक कारक भी स्पष्ट रूप से मिलते हैं।[19] सामन्त राजा के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करते थे तथा उन्हें रक्षा के लिये भी रखा जाता था। उल्लेखनीय है कि मनु ने दस, बीस, सौ तथा एक हजार गाँवों के एकांशों की व्यवस्था की है। साथ ही इनके प्रमुखों को भूमि अनुदानों के रूप में वेतन देने का विधान किया है।[20] प्राणनाथ की मान्यता है कि मनु ने अधजकर, जुर्माना आदि सामन्तों द्वारा ही वसूलने का विधान किया है।[21] किन्तु इस परिकल्पना का कोई आधार नहीं है। मनु लिखते है कि "कोश तथा

राज्य राजा के अधीन होता है।[22] मेधातिथि कोष से तात्पर्य "संचय स्थान" तथा राष्ट्र से तात्पर्य 'जनपद' का बताते हैं।[23] कुल्लूक इसका अर्थ "अर्थ-संग्रह-स्थान" तथा 'देश' करते है।[24] गोविन्द-राज तथा भारुचि का भी यही मत है। टीकाकारों का निश्चित मत है कि राजा को कोष तथा राष्ट्र को दूसरे के अधीन कभी नहीं करना चाहिए अपितु इसकी स्वयं देख-भाल करनी चाहिए।[25] इस प्रकार अर्थ विभाग, जिसके अन्तर्गत कर-संग्रह, आय-स्थान तथा खान और कर्मान्त, जिसका अर्थ मेधातिथि और गोविन्द-राज कर, शुल्क आदि वसूली के स्थान लगाते हैं, केन्द्रीय शासन का महत्त्व-पूर्ण विभाग था और यह राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में था।

केन्द्रीय शासन का दूसरा महत्वपूर्ण अंग निरीक्षण विभाग था जिसे "चार-कार्य" कहा गया है।[26] बताया गया है कि राजा "उन कार्यों में अनेक प्रकार के विद्वान् अध्यक्ष नियुक्त करे तथा ये इस राजा के सब कार्यों की देख भाल करें।"[27] मेधातिथि कार्यों में सुवर्ण, कोष्ठागार, पण्य, कुप्य तथा कुल्लूक सेना, अर्थ आदि स्थान की गणना करते हैं। जिन कार्यों की इन्हें देख-भाल करनी है वे टीकाकारों के अनुसार शुल्क, नौसेना, हस्ति, अश्व, रथ, पदाति आदि हैं।[28]

केन्द्रीय प्रशासन का तीसरा विभाग सेना तथा रक्षा का था। ये दोनों एक पृथक् अमात्य के अधीन थे। युद्ध के समय सेनापति और बला-ध्यक्ष सेना का संचालन करते थे। राजा स्वयं प्रधान सेनापति था। वह युद्धों में व्यक्तिगत रूप से भाग लेता था।[29] राज्य की रक्षा के निमित्त दो, तीन, पाँच या सौ ग्रामों के बीच एक सैन्य टुकड़ी स्थापित की

जाती थी जो सम्पूर्ण देश में फैली हुई थी।[30]

प्रान्तीय शासन-

मनु अनेक स्थानों पर "राष्ट्र" शब्द का प्रयोग करते हैं । नागरिकों को राष्ट्रिक कहा गया है।[31] किन्तु इससे तात्पर्य सार्वभौम राज्य से नहीं लगता। अर्थशास्त्र में भी राष्ट्र की कोई सुस्पष्ट राजनैतिक सत्ता नहीं दिखाई देती क्योंकि कौटिल्य इसके साथ-साथ दुर्ग, राज्य तथा राज्य का अलग-अलग उल्लेख करता है।[32] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य की दृष्टि में राष्ट्र से तात्पर्य जनपद अथवा जनपद के लोगों से था। मनु तथा शुक्र दोनों राष्ट्र की गणना सप्तांगों में करते हैं। एक स्थान पर मनु राष्ट्र के साथ-साथ मण्डल की अन्य पाँच प्रकृतियों --- अमात्य, दुर्ग, अर्थ तथा दण्ड का उल्लेख करते हैं/ कहा जा सकता है कि यदि राष्ट्र का अर्थ राज्य होता तो अमात्य, दुर्ग आदि का उल्लेख उससे अलग नहीं किया जा सकता था। राज्य एक विधिवादी शब्द है जिसका प्रयोग इटली में सोलहवीं शती में राजनीतिक तथा न्यायिक विचारधारा के दीर्घकालीन विकास के पश्चात् किया गया।[34] अस्तु प्राचीन राष्ट्र में उसका पर्याय ढूढ़ना तर्कसंगत नहीं होगा। राष्ट्र के अन्तर्गत कई "देश" होते थे।[35] कुल्लूक ने इसका अर्थ प्रदेश लगाया है। एक स्थान पर "विषय" शब्द मिलता है। कुल्लूक के अनुसार इससे तात्पर्य प्रदेश से है।[36] इस प्रकार देश अथवा विषय का अर्थ प्रदेश है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मनु का राष्ट्र या राज्य कई देशों, विषयों अथवा प्रदेशों में विभाजित था।

गुप्त काल में भी प्रदेश की एक संज्ञा देश थी।[37] किन्तु मनु के विवरण में हम प्रान्तीय शासन के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं करते।

स्थानीय शासन:-

मनुस्मृति में शासन की इकाइयों का गठन दशमिक पद्धति के आधार पर किया गया है। इन्हें अधिकार के उत्तरोत्तर क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है:-

1- ग्राम- यह शासन की लघुतम इकाई थी जिसका अध्यक्ष ग्रामिक अथवा ग्रामाधिपति होता था।[38]

2- दशी- यह दश ग्रामों के समूह का अधिकारी होता था।

3- विंशी- यह बीस ग्रामों के समूह का अधिकारी था।

4- शतेश या शताध्यक्ष- सौ ग्रामों के समूह का अधिकारी था।

5- सहस्त्रेश- एक हजार ग्राम इसके अधिकार में होते थे। इसे सहस्राधिपति भी कहा गया है।

इन सभी अधिकारियों की नियुक्ति राजा द्वारा ही की जाती थी।

नगर शासन-

प्रत्येक नगर में एक उच्च अधिकारी होता था जिसे "सर्वार्थ-चिन्तक" कहा गया है।[39] कुल्लूक इसे "नगराधिपति" तथा भारुचि "नागरक" कहते हैं। मेधातिथि के अनुसार उसे वरिष्ठ, प्रतापी तथा हस्ति, अश्वादि

बल सम्पन्न होना चाहिए।[40] कुल्लूक के अनुसार उसे "उत्तमकुलोत्पन्न, भय उत्पन्न करने वाला, तेजस्वी तथा कार्यद्रष्टा" होना चाहिए।[41] गोविन्दराज तथा भारुचि भी उसकी इन्हीं "विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं। मनु लिखते हैं कि "वह समस्त अधिकारियों का सर्वदा स्वयं निरीक्षण करे तथा गुप्तचरों के द्वारा राज्य में उनकी गतिविधियों के विषय में सम्यक् जानकारी रखे।"[42] भारुचि तथा गोविन्दराज के अनुसार इस अधिकारी को स्वयं घूम-घूम कर समस्त अधिकारियों एवं नागरिकों के आचरण की देख-भाल करनी चाहिए तथा उसे गुप्तचरों के माध्यम से राजा को सूचित करना चाहिए। मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार वह ग्रामाधिपति आदि की गतिविधियों की पूरी जानकारी गुप्तचरों के द्वारा प्राप्त करे। इससे स्पष्ट है कि इस पदाधिकारी का पद काफी महत्वपूर्ण था। नगर संबंधी सभी मामले उसके अधिकार में होते थे और वह सभी प्रकार के अधिकारियों पर नज़र रखता था।

ग्राम सं संबंधित अधिकारियों के कार्यों तथा अन्य कार्यों, जिन्हें कुल्लूक 'कृत-अकृत' कहते हैं, को देखने के लिये राजा की ओर से एक अन्य सचिव नियुक्त किया जाता था। इसे मनु "स्निग्ध" कहते हैं।[43] मेधातिथि इसका अर्थ रागद्वेष से रहित अर्थात् निष्पक्ष तथा कुल्लूक 'राजा का हितैषी' अर्थात् उसके प्रति निष्ठावान् बताते हैं। इससे सूचित होता है कि राजधानी से लेकर ग्राम तक के शासन पर राजा का पूरा नियंत्रण होता था।

ग्राम शासन-

मनु के विवरण से ग्राम शासन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। तदनुसार

यदि ग्राम में कोई चोरी या डकैती पड़ जाय और ग्रामपति उसे सम्हालने में असमर्थ हो तो उसे अपने ऊपर के अधिकारी दशी को सूचित करता था। इसी प्रकार विंशी, शतेश तथा सहस्रपति को बिना पूछे ही सूचना दी जाती थी।[44] इस प्रकार ग्रामपति से लेकर सहस्रपति तक शासन करने का एक सामंजस्य बना हुआ था और प्रत्येक एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते थे। स्थानीय शासन का यह विभाजन आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक प्रतीत होता है। हम ग्रामणी को प्रधान, दशी को सरपंच, विंशी को थानाध्यक्ष, शतेश को तहसीलदार तथा सहस्रपति को जिलाधिकारी मान सकते हैं। बूलर के अनुसार इन्हीं को लेखों में ग्रामकूट, विषयपति, राष्ट्रपति, राजस्थानीय आदि नाम दिये गये हैं।[45]

वेतन-

मनु कर्मचारियों तथा अधिकारियों के वेतन आदि पर भी प्रकाश डालते हैं। यह नकद न होकर द्रव्य के रूप में होता था और राजकोष से नहीं दिया जाता था। इसे जनता स्थानीय रूप से प्रदान करती थी। बताया गया है कि ग्रामवासियों द्वारा प्रतिदिन राजा के लिये अन्न, ईंधन आदि के रूप में जो प्रदेय हो उसे एक ग्राम का अधिकारी अपने निर्वाह के लिये प्राप्त करे। इसी प्रकार दश गाँवों का रक्षक एक "कुल" बीस गाँवों का रक्षक "पाँच कुल", सौ गाँवों का रक्षक एक "मध्यम ग्राम " तथा हजार गाँवों का रक्षक एक "मध्यमपुर" राजा से प्राप्त करे।[46] कुल्लूक तथा गोविन्दराज, हारीत का उद्धरण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि "जीविका के

लिये छः हलों की जोतवाली भूमि मध्यम हल है, दो मध्यम अर्थात् बारह हलों की जोत वाली भूमि "कुल" है।[47] मेधातिथि "कुल" से तात्पर्य "नगर का एक भाग" मानते हैं जिसे कुछ स्थानों में "हट्ट" कहा जाता है।[48] सामान्यतः कुल परिवार का सूचक है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक परिवार पर जो कर लगता था वही दशी की वृत्ति होती थी। इस प्रकार कुल का अर्थ किसी विशेष भूभाग से नहीं लगता। कुल द्वारा अन्न, ईंधन, पेय आदि में प्रदत्त कर, अपेक्षाकृत वृत्ति की दृष्टि से कम है। अतः राघवानन्द का कहना है कि "दशी को जीवन-यापन के लिये जितनी भूमि की आवश्यकता हो उतनी लेनी चाहिए।" शतेश की वृत्ति एक गाँव की आय बताई गयी है। इसी प्रकार सहस्रपति एक पुर की आय का उपभोग कर सकता था। उल्लेखनीय है कि कौटिल्य राजकर्मचारियों को नक्द वेतन दिये जाने की सिफ़ारिश करता है। मनु द्वारा इस व्यवस्था में परिवर्तन के पीछे इतिहासकार सामन्ती प्रवृत्तियों का प्रभाव देखते हैं।[49]

मनुस्मृति में श्रेणीधर्म का भी उल्लेख मिलता है। बताया गया है कि राजा उनके धर्मों को देखकर ही अपना धर्म व्यवस्थित करे।[50] राघवानन्द के पाठ के अनुसार राजा उनकी रक्षा करे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनु के समय में श्रेणियां क्रियाशील थीं। सातवाहन-क्षत्रप लेखों से इसकी पुष्टि होती है।[51] किन्तु मनु उनके कार्य तथा शासन का कोई विवरण नहीं देते। एक स्थान पर कहा गया है कि "यदि कोई मनुष्य जो ग्राम या देश संघ से संबंधित है, शर्त स्वीकार करके लोभवश उसे तोड़ देता है तो राजा उसे अपने

राज्य से निकाल दे"।[52] मेधातिथि तथा कुल्लूक दोनों व्यापारिक श्रेणियों को देश संघ के अन्तर्गत मानते हैं।[53] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि व्यापारियों की संस्थायें संविधान द्वारा राज्य की आवश्यक अंग मान ली गयी थी तथा उन्हें अपने कानून बनाने का अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार दे दिया गया था।

मनु प्रशासन का जो विवरण प्रस्तुत करते हैं उसका लक्ष्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम है। राजा को अकेले अथवा अपने मंत्रियों के साथ इनका चिन्तन करना है तथा परस्पर विरुद्ध इन तीनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए उनकी प्राप्ति के उपाय पर विचार करना है। यह भी कहा गया है कि व्यवहार निर्णय करते समय धर्म तथा अर्थ एवं इनके जो विरुद्ध हैं, अर्थात् काम एवं मोक्ष पर विचार कर लिया जाय।[54] इस प्रकार शासन नीति का सामान्य उद्देश्य चतुर्विध है---

1- अलब्ध की दण्ड द्वारा प्राप्ति।

2- प्राप्त किये गये का संरक्षण

3- संरक्षित की वृद्धि

4- बढ़े हुए का सत्पात्रों में दान।[55]

मनु द्वारा प्रतिपादित शासन के सामान्य सिद्धान्त अर्थशास्त्र परम्परा से प्रेरित लगते हैं। टीकाकारों ने भी अधिकांशत: इन्हीं का पोषण कियाहै। मेधातिथि मनु के कुछ सैद्धान्तिक विचारों को व्यवहारिक आधार प्रदान करते हैं। जैसे राजा तथा दण्ड की दैवी उत्पत्ति एवं उनकी अतिशय प्रशंसा पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं कि इनका सार यह है कि "क्षत्रिय अर्थात्

राजा, समभाव से राज्य का शासन करे और चूंकि यह दण्ड के बिना संभव नहीं है अतः वह शास्त्रानुसार स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र में, देशकाल की भली-भाँति समीक्षा कर दण्ड प्रवर्त्तित करे। शेष सभी विवरण अर्थवाद मात्र है। इसी प्रकार प्रशासन के कार्यकारी एवं न्यायिक पक्षों के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि प्रथम का उद्देश्य राज्य की स्थिरता है जिसमें भौतिक लाभ के लिये नैतिकता की उपेक्षा कर दी जाती है। इसके विपरीत द्वितीय का उद्देश्य न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन है जिसमें नैतिक विचार ही प्रमुख होते हैं। राजा का कार्य राज्य का हित-साधन है जबकि सभासदों का कार्य न्याय का हित साधन है। इस प्रकार राजा तथा सभासदों की स्थिति क्रमशः न्यायाधीश एवं अभिनिर्णायक (Judge and Jury) की है।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1- मनु0, 5·94, राज्ञो माहात्मिके स्थाने······।

2- वही, 7·57

3- मेधातिथि, 7·57

4- मनु0, 178·79

5- मेधातिथि, वही 7·178-79

6- कुल्लूक मन्वर्थमुक्तावली, 7·178-79

7- मनु0, 9·296

8- प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार और संस्थायें, पृष्ठ 58

9- वही, 7·81

10-वही,7·124

11- वही,7·125

12- वही, 7·161, 165, 167

13- वही, 7·54,81,120,121

14- वही, 9·298-302

15- वही, 7·69, 9·272,310

16- शर्मा, आर0एस0: भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ 25

17- दत्त, बी0एन0 : हिन्दू ला आफ इन्हेरिटेन्स, पृष्ठ 27

18- गोपाल, एल0: जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग एक तथा दो, 1963: "सामन्त इट्स वैरियिंग सिग्नीफिकेन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया" शीर्षक लेख।

19- यादव, बी0एन0एस0, पूर्वोक्त, 136

20- मनु0, 7·115-119

21- इकनामिक कंडीशन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ -160

22- मनु0, 7·65

23- मेधातिथि, वही, संचय स्थानं कोशः । राष्ट्रं जनपदः।

24- कुल्लूक, वही, नृपतावर्थ संचय स्थानदेशावायत्तौ···।

25- वही,7·65 पराधीनौ न कर्त्तव्यौ स्वयमेव चिन्तनीय धनं ।

26- मनु0, 7·81

27- वही, 7·81

28-मेधातिथि, वही, कुल्लूक, वही

29- मनु०, 7·65, 189

30- वही, 7·114, 190

31- वही, 7·111-113; 10·61

32- अर्थ० 5·1,

33- मनु०, 7·157

34- सेबाइन: "स्टेट" इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज, 14:328

35- मनु, 9·251

36- मनु०, 7·134

37- जूनागढ़ लेख, कार्पस० III, पृष्ठ 57

38- मनु०, 7·115, 118

39- वही, 7·121

40- मेधा० 7·121

41- कुल्लूक, वही, 7·121

42- मनु०, 7·122

43- वही, 7·120

44- वही, 7·116-17

45- सेक्रेड बुक आफ द ईस्ट 25, पृष्ठ 325

46- मनु०, 7·118-19

47- वही, 7·119

48- मेधा०, वही, 7·119

49- शर्मा, आर०एस०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 10-11

50- मनु०, 8·41

51- इपिग्राफी इण्डिका, खण्ड 8, पृष्ठ 65-71: नासिक तथा चुन्नार के लेख

52- वही, 8·219

53- मेधातिथि, वही,- ग्रामदेशसंघ एक धर्मानुगतानां नानादेशवासिनां नानाजातीयानामपि प्राणिनां समूह: यथा भिक्षुणोसंघोवाणिजां संघ:···। कुल्लूक, वही,- संघोवणिगादि समूह:······।

54- मनु०, 8·24

55- 7·101, अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया पात्रेषु नि:क्षिपेत् ।।

56- मेधा०, 7·29: समवृत्तेन क्षत्रियेण जनपद परिपालनं कर्त्तव्यं। तच्च दण्डेन बिना न भवतीति स देशाद्यपेक्षयाऽवश्यं निपुणतो निरूप्य स्वराष्ट्रे परराष्ट्रेवा यथा शास्त्रं प्रणेयं । अन्य: सर्वोऽर्थवाद: ।

57- वही, 8·2

पंचम अध्याय

राजस्व-व्यवस्था.

राजस्व-व्यवस्था

राज्य की समस्त गतिविधियां कोष अथवा धन पर ही निर्भर करती हैं। कौटिल्य इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखता है कि "समस्त प्रवृत्तियां" वित्त पर ही आश्रित हैं। यह सब प्रकार के संकट का निर्वाह करता है। धर्म और काम संबंधी समस्त कार्य इसी के माध्यम से सम्पन्न होते हैं"।[1] महाभारत में वर्णन मिलता है कि "धन परमधर्म है जिस पर सभी वस्तुयें निर्भर करती हैं। जिनके पास अर्थ नहीं है।वे मृतक तुल्य हैं। धनी व्यक्ति संसार में सुखपूर्वक निवास करते हैं। अर्थ के अभाव में जीवन-यापन असम्भव है।"[2]

अन्य भारतीय विचारकों के समान मनु भी इसके महत्त्व को समझते हुए इसे राज्य का एक अंग निरूपित करते हैं। मेधातिथि "रजत, स्वर्ण, मुद्रा आदि धन के संचय"को कोष कहते हैं।[3] कुल्लूक इसका अर्थ धन-संग्रह मानते हैं।[4] मनु राजा को सलाह देते हैं कि वह प्रतिदिन आय-व्यय, कोश आकर तथा कर्मान्त आदि को कार्य में फंसे रहने पर भी सदा देखता रहे।[5] आकर तथा कर्मान्त का अर्थ मेधातिथि क्रमशः सुवर्ण आदि धातुओं की उत्पत्ति का स्थान तथा कृषि, कर, शुल्क आदि अर्थात् राज्य की आय तथा उनके वसूल करने का स्थान लगाते हैं। सर्वज्ञनारायण के अनुसार इसका अर्थ राज्य द्वारा चलाये जाने वाले कारखाने है।

मनु रक्षण तथा कर-संग्रह में घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। उनके अनुसार राज्य जो सुरक्षा प्रदान करता है उसी के बदले में प्रजा उसे कर

देती है। जो राजा रक्षा प्रदान नहीं करता किन्तु विभिन्न प्रकार के करों को ग्रहण करता है, सांसारिक दृष्टि से उसके राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तथा मरने पर वह नरकगामी होता है।[6] मेधातिथि लिखते हैं कि ऐसे राजा को अपना राज्य छोड़ना पड़ता है। इसके विपरीत जो राजा पूरी शक्ति से अपने प्रजा की रक्षा करता है वह आपत्ति के समय यदि अधिक कर भी ले तो वह दोष का भागी नहीं होता।[7]

करद व्यक्ति:

कर मुख्यत: वैश्यों से लिया जाता था। यही कारण है कि उनकी रक्षा पर विशेष बल दिया गया है।[8] एक स्थान[9] पर वर्णन मिलता है कि "राजा व्यवहार से जीवन यापन करने वाले सामान्य जनों से कुछ वार्षिक कर ग्रहण करे।" मेधातिथि व्यवहार से तात्पर्य कृषिकर्म तथा धन से क्रय-विक्रय करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय से भिन्न जन" लेते हैं।[10] कुल्लूक के अनुसार इसका अर्थ "शाकादि अति सामान्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय से जीवन-यापन करने वाले निम्न वर्ण के लोग हैं।[11] गोविन्दराज इसका अर्थ क्रय-विक्रय से जीवन चलाने वाले हलवाई आदि निकृष्ट जन लगाते हैं।[12] जबकि भारुचि के अनुसार इससे तात्पर्य ब्राह्मणेतर लोगों से है।[13] इनसे न्यूनतम वार्षिक कर लेने की बात कही गयी है। कारूक, शिल्पी तथा स्वत: जीविका कमाने वाले शूद्र से कर के बदले माह में एक दिन काम कराने का विधान है।[14] कुल्लूक "कारूक" से तात्पर्य सूपकार आदि तथा शिल्पी से तात्पर्य लोहार आदि और स्वत: जीविका कमाने वाले से तात्पर्य श्रम करके भार ढोने वाले

लोग लगाते हैं। गोविन्दराज के अनुसार इसका अर्थ सूपकार, चर्मकार तथा भारवाहक है। इसी को "विष्टि" या बेगार कहा जाता था जिसका प्राचीन भारत में एक कर के रूप में प्रचलन था। यह उचित था कि जो गरीब आदमी नकद या धान्यादि रूप में सरकार को कर देने में समर्थ नहीं थे वे शारीरिक श्रम करके इसकी पूर्ति करते थे। मनु के समान गौतम[15] तथा विष्णु[16] भी मास में केवल एक दिन की बेगार लेने की अनुमति देते हैं।[17] गौतम ने तो यह व्यवस्था दी है कि बेगार करने वाले को राज्य की ओर से भोजन का प्रबन्ध किया जाय।[17] भारत में इस प्रथा का प्रचलन यूनान-रोम आदि देशों जैसा नहीं था। यही कारण है कि फाह्यान, ह्वेनसांग जैसे चीनी यात्रियों ने इसके भारत में प्रचलित न होने की बात कही है। यहां इसे अप्रिय कर माना जाता था तभी तो रुद्रदामन् जैसे विदेशी शासन ने भी आत्ययिक परिस्थिति में भी इसे लेना उपयुक्त नहीं समझा था। इसके अतिरिक्त अन्धा, जड़ (मूर्ख), सत्तर वर्ष से अधिक का बूढ़ा तथा अन्न आदि से श्रोत्रियों का उपकार करने वालों से किसी प्रकार का कर न लेने को कहा गया है।[18] श्रोत्रिय के विषय में तो कहा गया है कि राजा उनसे कदापि कर ग्रहण न करे भले ही वह कितने भी आर्थिक संकट में हो। प्रत्युत राजा से ऐसा प्रबन्ध करने को कहा गया है ताकि श्रोत्रिय भूख से पीड़ित न हों।[19] कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय क्षुधापीड़ित होता है, उसका राज्य भी शीघ्र ही भूख से पीड़ित हो जाता है। गोविन्दराज तथा कुल्लूक के अनुसार दुर्भिक्ष आदि का शिकार होने से राज्य का पतन हो जाता है।

अत: राजा को श्रोत्रिय के जीविका की व्यवस्था करनी चाहिए तथा औरस पुत्र के समान उसकी रक्षा भी करनी चाहिए। राज्य द्वारा सुरक्षित प्रतिदिन श्रोत्रिय जो धर्म करता है उससे राजा की आयु, धन और राज्य की वृद्धि होती है। मनु वैदिक या ब्राह्मण धर्म और व्यवस्था के पोषक हैं। अत: वेदपाठी ब्राह्मण को उनके द्वारा इतना अधिक सम्मानजनक स्थान दिया जाना उचित ही था।

भूस्वामित्व-

राजकीय आय का प्रमुख स्रोत भूमिकर ही था अत: भूस्वामित्व के के प्रश्न पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। एक स्थान पर मनु लिखते हैं "पुराविद् स्थुत्थ (ठूठ पेड़) काटकर भूमि को समतल करके खेत बनाने वाले का खेत तथा पहले बाण मारने वाले का मृग मानते हैं।"[20] इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि भूमि पर उसी व्यक्ति का अधिकार होता था जो उस पर कब्जा कर ले । किन्तु मृग तथा भूमि की समता बहुत व्यवहारिक नहीं लगती। कारण कि मारा गया मृग तो शिकारी द्वारा शीघ्र नष्ट कर दिया जायेगा जबकि भूमि के संबंध में स्थायी स्वामित्व का प्रश्न उठ खड़ा होगा। मनु का यह कथन अति प्राचीन काल की स्थिति का सूचक लगता है जबकि भूमि संबंधी मांग बहुत कम रही होगी। इससे तात्पर्य भूमि पर अधिकार मात्र से हो सकता है, स्थायी स्वामित्व से नहीं।[21] स्वयं मनु ही अन्यत्र लिखते हैं कि अधिकार स्वत्व (आगम) से वैध होता है।[22] याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा नारद आदि शास्त्रकार भी इसी की पुष्टि करते हैं।[23]

गौतम ने आगम के लक्षण रिक्थ, क्रय, विभाजन, परिग्रह तथा अधिगम को माना है तथा मनु भी इसी की पुष्टि करते हैं।[24] इस प्रकार स्वामित्व के लिये वैध स्वीकृति आवश्यक थी और इसके लिये शास्त्रकारों ने विधान निर्मित किया। चूँकि इस विधानों का क्रियान्वयन राजशक्ति ही कर सकती थी, अतः कृषक के स्वामित्व को सुरक्षा प्रदान करने के कारण राजा को भूमि का अन्तिम स्वामी मान लिया गया। मनु ने भी एक स्थान पर राजा को "सम्पूर्ण भूमि का स्वामी" बताया है।[25]

विद्वानों के बीच भूस्वामित्व का प्रश्न विवाद का विषय है। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के राजधर्मकाण्ड में कात्यायन का दो श्लोक उद्धृत किया है।[26] इसके आधार पर जायसवाल[27] भूमि पर निजी स्वामित्व का, घोषाल[28] राजकीय स्वामित्व का तथा काणे[29] राज्य तथा कृषक दोनों के स्वामित्व का मत प्रतिपादित करते हैं। किन्तु इनसे न तो राजा के निरंकुश एवं अखण्ड स्वामित्व सूचित होता है, न ही लोगों का पूर्ण अधिकार। अपितु इनसे भूमि पर समवर्ती किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार का स्वामित्व सिद्ध किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में एक ही भूमि पर विभिन्न पक्षों जैसे राजा, भूमिधर, काश्तकार, रेहनदार आदि सभी का अलग-अलग अधिकार प्रमाणित होता है। किन्तु शास्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार की काश्तकारी अथवा स्वत्व को स्पष्ट नहीं किया है।[30] पूर्व मध्य काल में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि राजकीय स्वामित्व का सैद्धान्तिक पक्ष प्रबल हो गया। अब राजा भूमि का रक्षक नहीं अपितु स्वामी होने के कारण कर का अधिकारी माना गया। किन्तु राजा का स्वामित्व

राज्य के स्वामित्व से भिन्न था क्योंकि भूमि अनुदान करते समय राजा अपने तथा अपने परिवार के पुण्यार्जन के लिये चिन्तित रहते थे, समाज या राज्य के अध्यात्मिक कल्याण के लिये नहीं। वे सामान्य भूस्वामियों के रूप में व्यक्तिगत हैसियत से ही भूमि अनुदान देते थे।[31]

इस प्रकार प्राचीन भारत में भूस्वामित्व किसी एक व्यक्ति में निहित नहीं लगता। सिद्धान्ततः राज्य अथवा राजा को समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। वह भूमि का रक्षक अथवा स्वामी होने के कारण उसकी उपज का अपना भाग नियमित रूप से प्राप्त करना था जबकि कृषक उसका स्वामी होने के कारण उसका उपभोग करते थे।[32] समाज में यही स्थिति सामान्य रूप से आज भी दिखाई देती है।

<u>कर सिद्धान्तः-</u>

मनु लिखते हैं कि राजा केवल उचित और शास्त्र संगत कर ग्रहण करे।[33] इस क्षेत्र में भी वे राज्य को प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं मानते। एक स्थान पर कहा गया है कि राजा लोगों के साथ न्याययुक्त वर्ताव करे। उसे "निर्दिष्ट फल भोक्ता" कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि राजा को शास्त्रसंगत तथा परम्परागत भाग ही लोगों से कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए, अधिक नहीं।[34] कुल्लूक तथा गोविन्दराज के अनुसार वह कर ग्रहण करने में शास्त्र के निर्देशों का पालन करे।[35] भारुचि का विचार है कि वह शास्त्र को प्रमाण मानते हुए छठां या आठवां भाग ही लोगों से कर के रूप में ले।[36] अन्यत्र इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा

गया है कि राजा "धर्म संगत कर ग्रहण करे।"[37] इस प्रकार मनु राजा को शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर से अधिक लेने का निषेध करते हैं। यह छठां या आठवां भाग होता था। इसे राजा की वृत्ति कहा गया है।[38]

मनु शास्त्रोक्त कर ग्रहण करने के दो अपवाद निरूपित करते हैं:-

1- आपत्ति काल में राजा धन का चतुर्थांश ग्रहण करने का अधिकारी होता है।[39] इस पर टिप्पणी करते हुए मेधातिथि लिखते है कि "यदि राजा का कोष क्षीण हो जाय तभी वह ऐसा कर सकता है। कुल्लूक, गोविन्दराज तथा भारुचि इसे आपद्धर्म मानते हैं। यह भी बताया गया है कि यदि राजा प्रजा की पूरी शक्ति से रक्षा करे तो अधिक कर लेने के पाप से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह एक आपत्कालीन व्यवस्था है जो अराजकता अथवा वाह्य आक्रमण की स्थिति में उत्पन्न हो सकती है, न कि यह सामान्य नियम है। इस स्थिति में भी अधिक कर लेना पाप ही है किन्तु प्रजा की रक्षा निमित्त होने से राजा पाप युक्त नहीं होता । यहाँ भी मनु प्रजारक्षण को सर्वोपरि रखते हैं ।

2- यदि क्षत्रिय {राजा} स्वयं जीवित रहने में असमर्थ हो अर्थात् उसके सामने गम्भीर आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया हो तो ब्राह्मण का धन कभी हरण न करे किन्तु दस्यु और निष्क्रिय व्यक्तियों का धन हरण कर ले।[40] दस्यु का अर्थ मेधातिथि 'तस्कर' तथा कुल्लूक 'निषिद्ध कार्य करने वाले' बताते हैं। इसी प्रकार निष्क्रिय को मेधातिथि 'अनाश्रमी' तथा कुल्लूक 'विहित कार्य न करने वाले' कहते है {विहितानुष्ठायिनो}। यह भी आपत्कालीन व्यवस्था है

क्योंकि सामान्य अवस्था में तो राजा को पापियों से धन लेने का निषेध ही किया गया है।[41]

मनु कर ग्रहण करने के संबंध में कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख करते हैं। कहा गया है कि कराधान इस प्रकार हो कि "राजा तथा व्यापारी दोनों अपने-अपने कार्यों का उचित फल प्राप्त करें।"[42] कुल्लूक इसका अर्थ यह लगाते हैं कि राजा प्रजा की देखभाल अच्छी तरह कर सके तथा दूसरी ओर व्यापारी भी कृषि, व्यापार आदि में लाभ प्राप्त कर सके। अतः अपने तथा व्यापारियों दोनों के हित पर विचार करके ही राज्य में कर लगाये जाने चाहिए। मेधातिथि का विचार है कि अधिक लाभ की दशा में परिमाण का अतिक्रमण करके भी कर लगाया जा सकता है। भारुचि इस कथन को स्तुति मात्र मानते हैं। कहा गया है कि राजा जहां अनुचित कर न ले वहीं उचित कर का त्याग भी न करे। इन दोनों से राजा का अनिष्ट होता है। "अग्राह्यधन लेने तथा ग्राह्य धन छोड़ने से प्रजा में राजा असमर्थ समझा जाता है तथा वह अधर्म के कारण मर कर तथा अपयश के कारण जीते हुए ही नष्ट हो जाता है।"[43] अग्राह्य धन लेने का परिणाम बताते हुए मेधातिथि लिखते है कि इससे प्रजा सोचती है कि राजा अपने पड़ोसी आटविक जातियों को जीतने में असमर्थ है तथा उनसे धन न मिलने के कारण ही उसे (प्रजा को) दण्डित कर रहा है।[44] कुल्लूक का भी यही विचार है कि शास्त्र विरुद्ध कर लेने से प्रजा में राजा की असमर्थता प्रकट होती है। परिणामस्वरूप प्रजा उससे रुष्ठ हो जाती है और वह

नरकगामी होता है। कहा गया है कि बिल्कुल न लेने से राजा को अपनी जड़ को तथा लोभवश अधिक लेकर प्रजा की जड़ को नष्ट नहीं करना चाहिए। अपनी जड़ को नष्ट करता हुआ राजा स्वयं को तथा प्रजाओं की जड़ को नष्ट करता हुआ उन्हें पीड़ा पहुँचाता है।[45] मेधातिथि लिखते हैं कि कर शुल्कादि ग्रहण न करने से कोष क्षीण हो जाता है तथा अधिक लेने से प्रजा दुखी होती है। अतः इन दोनों का त्याग कर सदा शास्त्रसंगत कर ही ग्रहण करने चाहिए। कुल्लूक तथा गोविन्दराज भी यही विचार व्यक्त करते हैं। मनु कराधान का अत्यन्त उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि "जिस प्रकार जोंक, बछड़ा तथा भौंरा थोड़े-थोड़े अपने खाद्य ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए"।[46] अन्यत्र वर्णित है कि जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ महीनों में किरणों के द्वारा जल ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा राज्य से कर ग्रहण करे।[47] मनु के इस सिद्धान्त का समर्थन कामन्दक तथा कालिदास भी करते हैं। कामन्दक राजा को सलाह देते हैं कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर ग्रहण करे। जिस प्रकार ग्वाला पहले गाय का पोषण करता है तथा फिर उसका दूध दुहता है तथा जिस प्रकार माली पहले पौधों को सींचता है फिर उनका चयन करता है उसी प्रकार राजा को पहले प्रजा का पोषण करना चाहिए, तत्पश्चात् उससे कर ग्रहण करना चाहिए।[48] कालिदास लिखते हैं कि जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जो जल सोखकर उसका हजार गुना बरसा देता है उसी प्रकार

राजा का आचरण कर ग्रहण करने में होना चाहिए।[49] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कराधान की आवश्यकता को समझते हुए भी मनु सहित समस्त भारतीय विचारक राजा को अत्याचार पूर्ण कर वसूलने की अनुमति नहीं देते। कराधान संबंधी यह आदर्श इतना प्रबल था कि रुद्रदामन् जैसा विदेशी शासक भी जूनागढ़ लेख में यह दावा करता है कि उसने अत्यायिक कार्यों में भी कर, विष्टि, प्रणय आदि के द्वारा प्रजा का उत्पीड़न नहीं किया ।[50]

विविध कर-

मनुस्मृति में एक स्थान पर पांच प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है- बलि, कर, शुल्क, प्रतिभाग तथा दण्ड।[51] टीकाकारों तथा विद्वानों ने इनके अलग अलग अर्थ किये हैं। इनका विवरण इस प्रकार है।

बलि- मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार राजा को प्रजा से प्राप्त होने वाले धान्यादि का छठां भाग बलि होता है।[52] अर्थशास्त्र में इसे "भाग" कहा गया है।[53] ए०एन० बोस[54] ने सुझाव दिया है कि बलि अनियमित कर था जबकि भाग नियमित। मिलिन्द-पन्ह में इसका उल्लेख एक आपात्कालीन देय के रूप में मिलता है।[55] थामस इसे धार्मिक कर {religious cess.} मानते हैं।[56] यह उपज का चौथा भाग होता था।

कर- मनुस्मृति में कई स्थानों पर इसका उल्लेख समस्त राजकीय देयों के लिये किया गया है।[57] अमरकोश के लेखक ने बलि, भाग तथा कर, तीनों का प्रयोग भूमि कर के अर्थ में किया है।[58] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है

कि अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति के काल तक इसका विशिष्ट अर्थ हो गया था। टीकाकार मेधातिथि इसे द्रव्य रूप में दिया जाने वाला उपहार , कुल्लूक ग्राम तथा नगर-वासियों द्वारा प्रतिमास या प्रति छठें मास राजा को दिया जाने वाला अंश (धन) ,सर्वज्ञनारायण भूमि पर स्थायी रूप से दिया जाने वाला हिरण्य, रामचन्द्र घास-फूस, ईंधन आदि के रूप में दिया जाने वाला अंशदान तथा राघवानन्द इसे ग्रामवासियों द्वारा दिया जाने वाला मासिक देय बताते हैं । कुल्लूक तथा राघवानन्द की व्याख्या भट्टस्वामी से मिलती है।[59] लक्ष्मीधर ने कर का प्रयोग शिल्पियों तथा कृषकों से नकद रूप में प्राप्त होने वाले निश्चित देय के अर्थ में किया है।[60] जबकि अभय-तिलकगणि ने हेमचन्द्र के द्वाश्रयकाव्य में उल्लिखित "कर" को "भूमिकर" के अर्थ में व्याख्यायित किया है।[61] यह एक सुविदित तथ्य है कि गुप्तकाल तथा उसके बाद सामन्त गण जो राजा को उपहार देते थे उसे भी सामान्यत: कर कहा जाता था।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि कर न्यूनाधिक रूप से ग्रामीणों से समय-समय पर लिया जाने वाला राजभाग होता था। जूनागढ़ लेख से विदित होता है कि दूसरी शती तक यह राजस्व का नियमित स्रोत बन गया था। इसी गणना विष्टि तथा प्रणय के साथ की गयी है जिसे लेना उचित नहीं समझा गया था। स्पष्ट है कि इसे एक उत्पीड़क कर समझा जाने लगा था। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर भूमि पर लगाया जाने वाला वार्षिक राजस्व नहीं था अपितु एक विशेष प्रकार का देय था जो उदार शासकों द्वारा त्यागा जा सकता था।

शुल्क:- मेधातिथि इसे व्यापारियों तथा सौदागरों से मिलने वाला भाग मानते हैं।[62] कुल्लूक स्थल-जल मार्ग से व्यापार करने वालों से विक्रय द्रव्य के अनुसार लिया जाने वाला धन अर्थात् चुंगी या कस्टम कहते है।[63] क्षीरस्वामी के अनुसार इसके अन्तर्गत व्यापारियों द्वारा घाटों पर दिया जाने वाला कर, सैनिक तथा पुलिस चौकियों पर दिया जाने वाला कर तथा पथकर, सभी शामिल थे।[64] गुप्तकाल में यह सीमा, विक्री की वस्तुओं आदि पर लगाया जाता था। स्कन्दगुप्त के बिहार लेख में "शौल्किक" नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है जो सीमाशुल्क विभाग का अधीक्षक था।[65]

इस प्रकार स्पष्ट है कि शुल्क व्यापारियों द्वारा नगर अथवा बंदरगाहों में लाये गये माल अथवा पण्य से प्राप्त होने वाला राजांश होता था। आधुनिक भाषा में हम इसे आयात-निर्यात कर कह सकते हैं।

प्रतिभाग:- मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार फल-फूल शाक आदि के रूप में प्रजा से प्रतिदिन जो राजांश मिलता है, वही प्रतिभाग है।[66] इसे एक गाँव के रक्षक की वृत्ति बताई गयी है।[67] करदर के सम्बन्ध में मनु लिखते हैं कि धान्य का छठां, आठवां या बारहवां भाग ग्रहण करना चाहिए।[69] मेधातिथि, कुल्लूक तथा गोविन्दराज कहते हैं कि यह भूमि की स्थिति, उसकी पैदावार तथा फसल उत्पन्न करने में लगे श्रम को ध्यान में रख कर निर्धारित किया जाना चाहिए। हापिकंस का विचार है कि भारत में एक हजार वर्षों तक कर दर कहीं भी इतनी नरम नहीं रही। ऐसी स्थिति में

मनु का विधान आदर्श स्वरूप ही प्रतीत होता है।[70] दर की दर पचासवां भाग बताई गयी है। यह जिस व्यक्ति के पास जितने नये पशु हुए हों अथवा उसने जितनी नई सम्पत्ति (सुवर्ण) अर्जित की हो, उस पर देय होता था। इसे आधुनिक आयकर अथवा पूंजी अभिलाभकर (Income Tax or Capitalgains-Tax) कहा जा सकता है। इसी प्रकार वृक्षों, मांस, मधु, घृतादि, औषधि के काम आने वाली वनस्पतियों अथवा तैयार की गयी औषधियों, रस (नमकादि), फूल, फल, मूल, पत्ते, साग, घास तथा चमड़े, बांस, मिट्टी और पत्थर से बनी सभी वस्तुओं का छठां भाग प्रतिभाग के रूप में देय था।[71] बलि तथा प्रतिभाग का चतुर्थांश भी आपत्ति के समय में लिया जा सकता था।[72] शुल्क का बीसवां भाग आपत्तिकाल में लिया जा सकता था।[73] मेधातिथि तथा कुल्लूक का विचार है कि यहां शुल्क से तात्पर्य सुवर्ण का व्यापार करने वालों से लिये जाने वाले व्यापार कर से है जो सामान्य स्थिति में पचासवां भाग होता था। यह निर्धारित करते समय वस्तु के क्रय-विक्रय के मूल्य, यातायात, मार्ग में खाने पीने तथा रख-रखाव पर पड़ने वाले खर्च को ध्यान में रखकर ऐसे लोगों द्वारा निर्धारित किये जाने को कहा गया है जो सभी वस्तुओं के व्यापार की जानकारी रखते हैं।[74]

राजस्व का एक अन्य स्रोत भूमि के अन्दर प्राप्त होने वाली खनिज सम्पत्ति तथा (गड़ाधन) है। राजा भूमि का स्वामी होने के कारण इनका भाग प्राप्त करने का अधिकारी था। खनिज सम्पत्ति का आधा भाग राजा को प्राप्त होता था। ऐसी सम्पत्ति किसी की भूमि में हो या

कोई उसे निकालने का कार्य करे, राजा को उसका अंश देना ही पड़ता था।[75]
जहां तक निधियों का प्रश्न है, इस विषय में यह व्यवस्था दी गयी है कि
यदि किसी विद्वान् ब्राह्मण को ऐसी निधि मिलती है तो वह सम्पूर्ण का
स्वामी है, किन्तु यदि किसी ब्राह्मणेतर को ऐसी निधि मिल तो उसके
छठें या बारहवें भाग का राजा अधिकारी होता है। लावारिस निधि का
आधा भाग राजा तथा आधा ब्राह्मण का बताया गया है। यदि किसी
वस्तु के स्वामी का पता न हो तो राजा तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने के
पश्चात् उसे अपने कोष में जमा करा सकता था। इस बीच यदि उसका स्वामी
वस्तु के अधिकार के विषय में प्रमाण देता था तो पात्र के अनुसार धन का
छठां, आठवां या बारहवां भाग लेकर उसे असली स्वामी को लौटा देता था।
इसके अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम के निवासी राजा को प्रतिदिन खाने-पीने की
वस्तुयें, ईंधन आदि देते थे किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह
ग्रामणी की वृत्ति मानी जाती थी।

इस प्रकार आय के विविध साधनों से राजा अपना कोष भरता था।

करचोरों को दण्ड-

मनु करों को अदा न करने अथवा उनकी चोरी के लिये दण्ड का
विधान करते हैं। भूस्वामी के दोष से राजदेय की हानि होने पर उसे दश
गुना दण्ड देना होता था और यदि स्वामी की अज्ञानता में उसके नौकर
की भूल से हानि होती थी तो उसका पाँच गुना दण्ड भूस्वामी को दिया
जाता था।[76] मेधातिथि, गोविन्द, कुल्लूक आदि के अनुसार भूस्वामी के
दोष से तात्पर्य यह है कि यदि वह फसल को पशुओं से चरा डालता है या

सही समय पर खेत में बीज नहीं बोता है। राजा को अन्न का षष्ठांश कर के रूप में मिलता था। यदि पैदावार न हुई तो इसकी हानि होती थी। इसकी पूर्ति के लिये हानिका दसवां भाग अथवा पांचवा भाग दण्ड के रूप में थोपा जाता था। शुल्क बचाने के उद्देश्य से चुंगी घर का रास्ता छोड़कर दूसरे रास्ते से जाने वाले, असमय पर विक्री करने वाले तथा तौल-माप के मूल्य को कम करके बताने वाले व्यापारियों पर शुल्क के वास्तविक मूल्य का आठगुना दण्ड लगाया जाता था।[77] मेधातिथि तथा कुल्लूक असमय का अर्थ रात्रि आदि में विक्री करना बताते हैं। मेधातिथि के अनुसार जितना शुल्क छिपाया जाय उसका आठगुना दण्ड होना चाहिए। कुल्लूक लिखते हैं कि यह राजा द्वारा निर्धारित दण्ड का अठगुना होना चाहिए। असमय का एक अन्य अर्थ मेधातिथि के अनुसार गुप्त रूप अथवा चोरी से बेचना है।

राजकीय धन का घोटाला करने वालों के लिये अनेक प्रकार के शारीरिक दण्डों की व्यवस्था की गयी है। इनमें हाथ, पैर, जीभ आदि काटकर मृत्यु दण्ड दिया जाना शामिल है।[78] आग्रह किया गया है कि राज्य की आय वृद्धि तथा उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये वित्त विभाग, खानों कर्मान्तों आदि में ईमानदार अमात्यों को ही नियुक्त किया जाय।[79]

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1- अर्थ0, 8·1

2- उद्योग पर्व, 72·23-24

3- मेधातिथि, 9·294: कोशो रूप्य सुवर्ण रूपकादिधन संचय: ।

4- कुल्लूक, वही: कोशो वित्तनिचय: ।

5- मनु0, 3·419

6- वही, 8·306-309

7- मेधातिथि, 10·118

8- मनु0, 10·119

9- वही, 137·38

10- मेधातिथि, 7·137: कृषिधनप्रयोग क्रय विक्रय दिव्यवहारिण ब्राह्मणच्छ्रोत्रियादन्यं ।

11- कुल्लूक, वही;- शाकपर्णादिस्वल्पमूल्यवस्तु क्रयविक्रयादिना जीवन्तं निकृष्ट जनं ....।

12- गोविन्द, वही- क्रय विक्रयादिजीविनमापूपिकादिकं····· ।

13- भारुचि, वही, ब्रह्मणादन्य: पृथग्जन:···।

14- मनु0, 7·138

15- गौतम, 2·1·31

16- विष्णु0, 3·32

17- वही, 2·1·35,: भक्तं त तेभ्यो दद्यात् ।

18- मनु0, 8·394

19- वही, 7·133

20- मनु0, 9·44

21- विनग्रेडाफ, ज्युरिसप्रुडेन्स , खण्ड 1, पृष्ठ 324-25, 335

22- मनु, 8·199,200

23- याज्ञ0, 2·28, बृहस्पति,7·24-25,30, नारद0 1·84-85,86

24- गौतम,2·21; मनु0, 10·115

25- मनु0, 8·39

26- राजधर्मकाण्ड, पृष्ठ 90: भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्य द्रव्यस्यसर्वदा ।
तत्फलस्य हि षड्भागं प्राप्नुयान्नान्यथैव तु ।।
भूतानां तन्निवासित्वात् स्वामित्वं तेनेकीर्तितम् ।
तत्क्रिया बलिषड् भागे शुभा शुभा निमित्तजम् ।।

27- जायसवाल: हिन्दू पालिटी, भाग 2 पृष्ठ 173 तथा आगे

28- घोषाल,: इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज.पृष्ठ 164

29- काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, III, पृष्ठ 495

30- डेरेट: बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरियन्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज, खण्ड 18, भाग 3, पृष्ठ 481 तथा आगे

31- शर्मा, आर0एस0:भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ 139-60

32- गोपाल, एल0: एस्पेक्ट आफ हिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 170-80

33- मनु0· 7·80,144; 8·172; 10·119

34- मेधातिथि,7·144- पारंपर्यागतमेव भागं गृहणीयान्नाधिकम्· ·····।

35- कुल्लूक, वही,- करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठ: स्यात····।

36- भारुचि, वही- आम्नाय प्रमाण्येन षष्ठाष्टमभागग्रहणादिना बलिमाहरेत्··।

37- मनु0, 10·119

38- वही,7·130-32, गौतम, 10·24-27, आपस्तम्ब , 10,269

विष्णु,111, 22-25, बौधायन, 1, 10·18·1

39- वही, 10·118

40- वही, 11·18

41- वही, 9·243-47

42- वही, 7·127-28 यथा फलेन युज्येत राजाकर्त्ता च कर्मणाम् ।

तथा वेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान् ।।

43- 8·170-71

44- मेधातिथि, वही, 7·17।

45- मनु0, 7·139

46- वही, 7·129

47- वही, 9·305

48- कामन्दक, 5·74,84: आददीतधनंतेभ्यो भास्वानस्त्रैरिवोदकम् ।

यथा गौपाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा ।।

सिच्यते चीयते चैव लतापुष्प फलार्थिन: ।।

49- रघुवंश, 1·18

50- अपीडयित्वा करविशिष्टप्रणयक्रियाभि:······।-इपि0 इण्डिका 8·257

51- मनु0, 8·307

52- मेधातिथि,8·307, बलिर्धान्यादे:षष्टोभाग: ।

कुल्लूक ,वही

53- मनु0, 2·6,15

54- सोशल एण्ड रूरल इकानमी आफ नार्दर्न इण्डिया खण्ड 1, पृष्ठ 26

55- सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, 25,7·2,8

56- थामस एफ0डब्ल्यू: जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1909,

पृष्ठ 466-67

57- मनु0, 7·128,129,133

58- वही, 8·28, अमरकोश, भागदेयो करो बलि:····।

59- भट्टस्वामी 2·15: कर: प्रतिवर्ष देय: भाद्रपदिक वासन्तिकाध्यम

पादेवम् ।

60- गृहकाण्ड,कर: कारुकृषिबलेभ्यो नियत धनादानम्, पृष्ठ 255

61- द्वाश्रय टीका 111, 5·18, कृषिपशुचारणादिकृतराजकीयभूम्युपभोगहेतुको

राजग्राह्यो भागा: ।

62- मेधातिथि, वही, शुल्क वणिक्प्राप्य भाग: ।

63- कुल्लूक, वही, शुल्क स्थलजलपंथादिना वणिज्याकारितेभ्यो नियतस्थानेषु

द्रव्यानुसारेण ग्राह्यं दानं इति प्रसिद्धं····।

64- अमरकोश, 9·28: घट्टादि देयम् शुल्कम्····।

65- फ्लीट, कार्पस इंस्क्रप्सनम् इंडिकेरम्, खण्ड तीन,पृष्ठ 50

66- मेधातिथि, वही: प्रतिभागं फलभरणलाद्युपायनं ।

तुल्लूक ,वही,: प्रतिभागंफलकुसुमशाकतृणाद्युपायनं प्रतिदिन ग्राह्यम्···।

67- मनु, 7·118

68- कुल्लूक, वही, दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति····।

69- मनु0, 7·130

70- आर्डिनेन्सेज आफ मनु, पृष्ठ 164

71- मनु0, 7·130-32

72- वही, 10·118

73- वही, 10·120

74- वही, 7·127; 8·398

75- वही, 8·29

76- वही, 8·243

77- वही, 8·400

78- वही, 9·275

79- वही, 7·60,62

षष्ठम् अध्याय

पुलिस तथा गुप्तचर.

पुलिस तथा गुप्तचर

पुलिस संगठन-

प्राचीन भारत में आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिये पुलिस तथा गुप्तचर विभाग का गठन किया गया था। किन्तु पुलिस तथा सैनिक अधिकारियों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं दिखाई देता। उस समय चोरियां बहुत कम होती थीं। केवल साहसिक व्यक्ति ही डकैती या पशु और सम्पत्ति हरण करने का दुःस्साहस करते थे तथा इन्हें सेना की सहायता से ही दबाया जा सकता था। सुरक्षा की जिम्मेदारी स्थानीय स्तर पर नियुक्त अधिकारी सम्हालते थे। कहीं-कहीं ग्राम का अध्यक्ष ही प्रधान पुलिस अधिकारी होता था। शान्ति व्यवस्था स्थापित करना उसी का कार्य था। उसके असमर्थ होने पर ही सैनिक अधिकारी यह कार्य करते थे। अर्थशास्त्र में पुलिस के सिपाहियों को "रक्षिन्" कहा गया है। इनका कार्य रात को लोगों के घरों की देख-रेख करना, अपराधियों का पता लगाना, उन पर नज़र रखना, देश में शान्ति स्थापित करना तथा लोगों के धन -माल की रक्षा करना बताया गया है।[1] रात्रि में कार्य करने वाले पुलिस का एक विशेष वर्ग होता था।

जहां तक मनु का प्रश्न है हम उन्हें कुछ स्थानों पर "रक्षाधिकृत" नामक अधिकारियों का प्रयोग करते हुए पाते हैं।[2] बताया गया है कि वे राष्ट्र या राज्य की रक्षा के लिये नियुक्त किये जाते थे। तदनुसार "राज्य की रक्षा

के लिये दो-दो, तीन-तीन या पंच-पांच गाँवों के समूह का एक-एक गुल्म स्थापित किया जाय[3]। टीकाकार मेधातिथि एवं कुल्लूक भट्ट के अनुसार गुल्म से तात्पर्य "रक्षकों के समूह"से है। ऐसा प्रतीत होता है कि आजकल के थानों या चौकियों के समान ही उस समय भी लोगों की रक्षा के निमित्त चौकियां स्थापित की जाती थी जहां रक्षकों के समूह स्थित होते थे। उनके विषय में जो संक्षिप्त विवरण मिलता है उससे सूचित होता है कि उनका मुख्य कार्य चोरों का पता लगाना तथा उन्हें पकड़ना था। आशंका व्यक्त की गयी है कि इस प्रकार के अधिकारी प्राय: घूसखोर होते हैं[4] तथा चोरी करने में मध्यस्थ होकर चोरों की सहायता करते हैं।[5] अत: राजा से आग्रह किया गया है कि वह इस प्रकार के अधिकारियों का सर्वस्व हरण कर उन्हें राज्य से बाहर निकाल दे और उन्हें वही दण्ड दे जो चोरों के लिये विहित है। गुप्त काल तथा उसके बाद के साहित्य एवं लेखों में पुलिस कर्मचारियों को "चाट-भाट" तथा उसके अधिकारियों के लिये "दण्डपाशिक" और "चौरोद्धरणिक" शब्द का प्रयोग मिलता है।[6] भूमि संबंधी दानपत्रों में "अभटचाट प्रवेश्य" शब्द मिलता है। ज्ञात होता है कि ये लोग ग्रामवासियों को सताते तथा उनके साथ बुरा व्यवहार करते थे। वे किसानों के घरों में प्रवेश करके उन्हें अपनी कच्ची-पक्की फसल, ईख, नमक तथा गाय के दूध का भाग देने को मजबूर कर सकते थे, अपने उपयोग के लिये उनके घरेलू उपकरण, यथा कुर्सी, बेंट, चारपाई आदि उठा ले जाते थे।[7] हर्षकालीन बंसखेड़ा ताम्रपत्र में भी चाट-भाट नामक कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है। चाट ऐसे सिपाही होते थे जो नियमानुसार राज्य की ओर से नियुक्त नहीं किये जाते थे बल्कि

स्वयं ही स्वतन्त्रता पूर्वक गांवों में घूमा करते थे। इसके विपरीत भट ऐसे सिपाहियों को कहते थे जो नियमानुकूल राज्य की ओर से नियुक्त किये जाते थे तथा जिनका काम गांव की रक्षा करना होता था। उनके रहने तथा खाने की व्यवस्था गांव वालों को ही करनी पड़ती थी। जो गांव दान में दिये जाते थे वहां ऐसे कर्मचारियों का प्रवेश वर्जित रहता था। चम्बा अभिलेख से सूचित होता है कि जो गांव राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थे उन्हें इन अधिकारियों एवं कर्मचारियों के भोजन, आवास, आवागमन आदि पर काफी खर्च करना पड़ता था।[8]

इस प्रकार मनु तथा उनके टीकाकार "रक्षाधिकृत" नामक कर्मचारियों के कार्यों एवं आचरण के विषय में जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वह काल्पनिक न होकर तथ्यों पर आधारित है। पुलिस द्वारा प्रजा से घूस लेना, उसे उत्पीड़ित एवं अपमानित करना प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय समाज के लिये आम बात रही है।

गुप्तचर संगठन

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में गुप्तचर संगठन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रत्येक युग में इसके महत्त्व को समझा गया तथा आन्तरिक षड्यन्त्रों एवं छिपे हुए अपराधियों का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी। युद्ध के समय भी गुप्तचरों की आवश्यकता समझी जाती थी। रामायण में कहा गया है कि जो राजा गुप्तचरों की नियुक्ति नहीं करता उसके राज्य का अस्तित्व नष्ट हो जाता है।[9] महाभारत में गुप्तचरों को राज्य का मूल आधार निरूपित किया गया है।[10]

गुप्तचरों की उपेक्षा करने वाले राजा को शुक्र ने "म्लेच्छ" की संज्ञा दी है तथा जो गुप्तचरों की बातों का ध्यान नहीं देता उसे बुद्धिहीन तथा स्वघाती बताया गया है।[11]

गुप्तचरों की संस्था का प्रारम्भ भारत में कब हुआ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वैदिक साहित्य में गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है।[12] अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के चार अध्यायों में गुप्तचरों का वर्णन मिलता है। इससे सूचित होता है कि कौटिल्य के समय तक यह संस्था शासन के क्षेत्र में सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कौटिल्य इन्हें "गूढ़पुरुष" कहता है तथा लिखता है कि "शत्रु", मित्र, मध्यम और उदासीन प्रकार के राजाओं तथा अठारह तीर्थों की गतिविधि पर निगाह रखने के लिये गुप्तचरों को संचालित करना चाहिए।"[13] गुप्तचर वे ही नियुक्त किये जाते थे जिनके चरित्र की शुद्धता एवं निष्ठा की परीक्षा सब प्रकार से कर ली जाती थी। यूनानी लेखक उन्हें "इन्स्पेक्टर्स तथा ओवरसीयर्स" कहते है और बताते है कि इन पदों पर अत्यन्त योग्य तथा विश्वासनीय व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी[14] अर्थशास्त्र रामायण, महाभारत, मनु, कामन्दक एवं शुक्रनीतिसार आदि ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गुप्तचरों के चयन के लिये किसी विशेष सामाजिक वर्ग, श्रेणी अथवा स्रोत का सहारा नहीं लिया गया था। आवश्यक यह था कि व्यक्ति कुलीन हो तथा समाज में उसका अपवाद न हो।[15] कामन्दक का कथन है कि गुप्तचर में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह लोगों के मन की बात जान ले उसकी स्मृति शक्तिशाली हो, वह मधुरभाषी हो, शीघ्रगामी हो, उसमें विपत्तियों को सहन एवं कठिन परिश्रम करने की शक्ति

हो, क्षिप्र हो तथा वह प्रत्युत्पन्न मति हो।[16]

मनुस्मृति में गुप्तचरों तथा उनके कार्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इनके लिये "चर", "चार" तथा "प्रणिधि" शब्दों का प्रयोग किया गया है और राजा को "चार-चक्षुष" कहा गया है।[17] मनु के अनुसार "द्रव्य को हरण करने वाले दो प्रकार के तस्कर होते हैं- प्रकट तथ अप्रकट। राजा इन्हें अपने गुप्तचर रूपी नेत्रों से पहचाने। प्रकट रूप से लुटने वाले तो विभिन्न प्रकार के व्यापारी हैं जो मूल्य तथा तौल या नाप में लोगों के देखते-देखते सोना, कपड़ा आदि को बेचते समय ठग लेते हैं तथा सेंधमारी करके या जंगल आदि में छिपकर रहते हुए दूसरों के धन चुरानेवाले अप्रकट तस्कर होते हैं। घूसखोर, भयादोहन करने वाले, ठग, जुआरी, अच्छी-अच्छी बातें बनाकर धन लेने वाले, उत्तमवेष धारण कर अपने दूषित कर्म को छिपाते हुए लोगों से धन लेने वाले, हस्तरेखा देखकर शुभाशुभ फल कहने वाले, अशिक्षित महावत, अशिक्षित चिकित्सक, शिल्प की जीविका वाले, धन हरण करने में निपुण वेश्या, ब्राह्मणादि का वेष धारण कर गुप्त रूप से जनता को ठगने वाले शूद्र को भी प्रकट तस्करों में सम्मिलित करते हुए कहा गया है कि अच्छे चरित्र वाले, गुप्त रूप से रहने वाले एवं विविध वेष धारण किए हुए गुप्तचरों से उन वंचकों के विषय में जानकारी प्राप्त की जाय तथा शासन कर उन्हें वश में किया जाय।[18] यह भी बताया गया है कि सर्वार्थ-चिन्तक नामक उच्च पदाधिकारी जो दस, बीस, सौ तथा एक हजार गाँवों का शासन चलाने के लिय नियुक्त किया गया था और जिसे हम आधुनिक भाषा में स्वायत्त शासन मंत्री कह सकते हैं, अपने अन्य कार्यों के साथ-साथ ग्रामाधिपति आदि समस्त

पदाधिकारियों के कार्य, बर्ताव आदि व्यवहारों का गुप्तचरों द्वारा जानकारी प्राप्त करता रहे।[19] मेधातिथि तथा भारुचि इन गुप्तचरों को "कापटिक" अर्थात् कपट या छद्म वेष धारण कर सूचना एकत्र करने वाले बताते हैं। मेधातिथि का कहना है कि राजा को अधिकारियों एवं कर्मचारियों के क्रिया-कलापों को समग्ररूप से गुप्तचरों द्वारा जान लेना चाहिए। भारुचि लिखते हैं कि राजा रक्षा करने के निमित्त सदा परिभ्रमण करता रहे तथा अधिकारियों की गतिविधियों को ज्ञात करता रहे।[20] शुक्र का कथन है कि प्रत्येक रात्रि को राजा, प्रजा एवं कर्मचारियों के अभिप्रायों, मंत्रियों, शत्रुओं, सैनिकों, सभासदों, सम्बन्धियों एवं अन्तःपुर की रानियों की सम्मतियों की जानकारी गुप्तचरों द्वारा प्राप्त करे।[21] कौटिल्य ने समाहर्ता द्वारा नियुक्त कुछ ऐसे गुप्तचरों की चर्चा की है जो अशान्ति पैदा करने वालों को नियंत्रित करने, घूस लेने वाले न्यायाधिकारियों एवं अन्य विभागीय अधीक्षकों का भेद बताने, अनधिकृत ढंग से मुद्रा बनाने वालों का पता लगाने, बलात्कार करने वालों, चोरो, डाकुओं एवं अपराधियों की खोज करने के लिये नियुक्त किये जाते थे। न्याय संबंधी कुछ विशेष जानकारी के लिये भी गुप्तचरों की व्यवस्था अर्थशास्त्र में की गयी है। बताया गया है कि जब साक्षियों के कारण वादी तथा प्रतिवादी दोनों का मुकदमा गड़बड़ा जाय तो गुप्तचरों द्वारा सही बात की जानकारी कर निर्णय दिया जाना चाहिए।[22]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुप्तचर सम्पूर्ण साम्राज्य में फैले हुए थे तथा प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी की गतिविधि पर निगाह रखते थे। मनु गुप्तचरों की नियुक्ति के कुछ मुख्य स्थानों की ओर भी संकेत करते हुए

लिखते हैं कि इनमें अपराधियों के होने की सम्भावना प्रबल होती है, अत: वहां उन्हें विशेष रूप से नियुक्त किया जाय। इन स्थानों में सभा स्थल, प्याऊ, पूआ-पूड़ी आदि बिक्री का स्थान (होटल आदि), गल्ले की दुकान, चौराहे, मन्दिर, बड़े बड़े प्रसिद्ध वृक्षों की जड़ के नीचे का भाग, अनेक लोगों के एकत्रित होने के स्थान, प्रदर्शनी आदि दर्शनीय स्थल, पुराने उद्यान, जंगल, शिल्पियों के मकान, निर्जन घर, वन, फुलवाड़ी आदि की गणना की गयी है। कहा गया है कि ऐसे गुप्त स्थानों में घूमने फिरने तथा एक स्थान में रहने वाले चोरों को रोकने के लिये राजा "चार" अर्थात् गुप्तचर नियुक्त करे।[22]

महाभारत में भी इन स्थलों के नाम दिये गये है जहां गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी तथा इस बात पर बल दिया गया है कि गुप्तचर एक दूसरे को जान न सके। तदनुसार "गुप्तचरों" को दूसरे देशों, उद्यान, विहार, प्याऊ, निवास-स्थान, मदिरालय, प्रवेश द्वार, तीर्थों तथा सभाओं में नियुक्त करना चाहिए।[23]

न केवल आन्तरिक प्रशासन अपितु सैनिक अभियान के समय भी गुप्त-चरों के कार्यों का महत्व समझा गया था। गुप्तचरों की सूचना पर कभी-कभी जय-पराजय निर्भर करती थी। राजा इनके द्वारा शत्रु की तैयारी तथा अपनी शक्ति के विषय में ज्ञान प्राप्त करता था। कहा गया है कि सैन्य अभियान प्रारम्भ करने से पूर्व विजिगीषु राजा कपटवेश धारी अपने गुप्तचरों को शत्रु देश की प्रत्येक बात ज्ञात करने के लिये प्रेषित करे।[24] कुल्लूक लिखते है कि शत्रु देश की गतिविधियों की जानकारी के लिये कपटवेशधारी गुप्तचरों

को भेजना चाहिए।[25] कभी कभी गुप्तचरों को युद्ध के दौरान सेना में भी छोड़ा जाता था। द्रोणपर्व से पता चलता है कि दुर्योधन की सेना में कृष्ण की ओर से गुप्तचर छोड़े गये थे तथा यही दुर्योधन की ओर से भी किया गया था।[26] पूर्व मध्यकालीन कुछ ग्रन्थों में हमें गुप्तचरों द्वारा गलत सूचनायें दिये जाने के संदर्भ भी प्राप्त होते हैं जो अन्ततोगत्वा उनके स्वामियों के विनाश के कारण सिद्ध हुए। बारहवीं शती की रचना "ललित-विग्रह-नाटक" से पता चलता है कि विग्रहराज चौहान के गुप्चर ने उसके शत्रु की सैन्य शक्ति के विषय में कोई सूचना नहीं प्रदान की।[27] इसके विपरीत चौलुक्य शासक वस्तुपाल के विषय मे कहा गया है कि उसके निपुण गुप्तचर संगठन के कारण उसे अपने पड़ोसी राजाओं पर विजय प्राप्त कर सकने में सफलता प्राप्त हुई थी।[28] यह इतिहास का एक सुविदित तथ्य है कि पृथ्वीराज, जयचन्द्र तथा बंगाल के लक्ष्मण सेन जैसे राजाओं को तुर्क आक्रान्ताओं के विरूद्ध जो असफलता प्राप्त हुई उसका एक प्रमुख कारण उनका निर्बल गुप्तचर तंत्र ही था जो शत्रु की सैन्यशक्ति का सही अन्दाजा नहीं लगा पाया। इस प्रकार युद्ध तथा आक्रमण के समय भी गुप्तचरों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण होती थी।

मनु के समान महाभारत में भी चारों के रखने की आवश्यकता कई स्थानों पर बताई गयी है।[29] कौटिल्य तथा कामन्दक ने भी उनके विषय में विस्तार से नियम दिये हैं।[30]

मनु लिखते है कि "जिस प्रकार वायु समस्त प्राणियों में प्रवेश कर विचरण करता है उसी प्रकार राजा को गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश करना चाहिए।"[31] इस पर टिप्पणी करते हुए कुल्लूक लिखते हैं कि उसे अपने राज्य

तथा दूसरे के राज्य की गतिविधियों की पूरी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।[32] इसी को राजा का "मरुतव्रत" कहा गया है। इसी कारण गुप्तचरों को राजा का नेत्र" भी कहा गया है। कामन्दक ने राजा को "चारचक्षुर्महीपतेः" अर्थात् गुप्तचर राजा के नेत्र हैं कहा है।[33] यही बात विष्णुधर्मोत्तर[34] में भी दुहराई गयी है। महाभारत में वर्णन मिलता है कि "गायें गन्ध द्वारा, ब्राह्मण वेद द्वारा, राजा गुप्तचरों द्वारा तथा दूसरे लोग दोनों आंखों द्वारा देखते हैं।"[35] राजा को सलाह दी गयी है कि वह गुप्तचरों के कार्यों की स्वयं देख-भाल करे।[36] कहा गया है कि राजा "सायंकाल का संध्योपासन करके दूसरी कक्षा के भीतर एकान्त स्थान में स्वयं शस्त्र को धरण कर गुप्त समाचारों को बताने वाले गुप्तचरों के कामों को सुने।[37] मेधातिथि इसका अर्थ यह लगाते हैं कि गुप्तचरों से "क्या देखा, क्या सुना और क्या किया?" इसकी जानकारी राजा को प्राप्त करनी चाहिए। कुल्लूक तथा गोविन्दाज का कहना है कि राजा उनसे अपने कार्यों (स्व-व्यापार) के विषय में जानकारी ले। मनु के विवरण से स्पष्ट है कि राजा गुप्तचरों की उपेक्षा नहीं कर सकता था तथा उनसे बातें करके समस्त क्रिया-कलापों की जानकारी प्राप्त करना उसके दैनिक कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग था। वस्तुतः प्राचीन भारत में इसे शासन के सुचालन के लिये अत्यावश्यक समझा गया। इसी के द्वारा आन्तरिक षड्यन्त्रों, विद्रोहों आदि को नियंत्रित किया जा सकता था तथा बाहरी संकटों - आक्रमण आदि के विषय में पूर्वानुमान कर तदनुसार उससे बचाव अथवा सुरक्षा का प्रबन्ध किया जा

करता था। यह बात बहुत कुछ आज के युग में भी चरितार्थ होती है।

मनुस्मृति के अनुसार गुप्तचरों के मुख्य कार्य इस प्रकार है-

1· सभी प्रकार के मनुष्यों की गतिविधियों पर निगाह रखना।[38]
2· प्रच्छन्न तथा प्रकट तस्करों का पता लगाना।[39]
3· शत्रु की शक्ति तथा उसकी तैयारी के विषय में राजा को सूचित करना[40]
4· राजा की स्वयं की शक्ति के विषय में उसे सूचित करना।[41]

मेधातिथि लिखते है कि राजा गुप्तचरों के माध्यम से यह ज्ञात करे कि दूसरा पक्ष उसके ऊपर क्या शक्ति रखता है तथा उसकी स्वयं की शक्ति दूसरे पक्ष की अपेक्षा कितनी है।

उल्लेखनीय है कि कौटिल्य का भी कहना है कि शत्रु के साथ व्यवहार में, अपने राज्य के विरोधी एवं अपराधियों आदि को नष्ट करने में, राज्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में तथा राज्य के अधिकारियों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में गुप्तचरों की नियुक्ति की जानी चाहिए। शान्तिपर्व में कहा गया है कि राजा मित्रों, पुत्रों के पास, पुर, जनपद में तथा सामन्त राजाओं के पास गुप्तचर नियुक्त करे ताकि वे उनकी गतिविधियों के विषय में राजा को सूचना दिया करें। यहां देश और विदेश में रहने वाले दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख पाते हैं- अन्तश्चर तथा बहिश्चर ।[42] कामन्दक का विचार है कि गुप्तचरों द्वारा राजा शत्रु तथा स्वपक्ष के पापी लोगों की जानकारी प्राप्त करे तथा फिर जो पापी है और बिना कारण के क्रुद्ध हैं उन्हें दण्ड दे। इनके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कामन्दक कहते हैं कि गुप्तचरों के बिना जागता हुआ राजा भी सोते हुए के समान है तथा वह फिर जागने में समर्थ नहीं होता।[43]

मनु के विवरण से पता चलता है कि गुप्तचर विभिन्न स्थानों पर नियुक्त किये जाते थे। इन्हें "अनेक संस्थानैः" कहा गया है। अर्थशास्त्र में

भी संस्था: अर्थात् एक स्थान पर निवास करने वाले तथा संचारा: अर्थात् परिभ्रमण करने वाले गुप्तचरों का उल्लेख किया गया है। प्रथम वर्ग में कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक और तापस की गणना की गयी है जबकि द्वितीय वर्ग में सत्री, तीक्ष्ण, परिव्राजिक तथा रसदा: को शामिल किया गया है।[44] मनु एक स्थल पर लिखते हैं कि राजा "आठ प्रकार के सब कर्म, पंचवर्ग, अनुराग, अपराग और राजमण्डल के प्रचार का वास्तविक रूप से चिन्तन करे।[45] यहां "पंचवर्ग का अर्थ प्राय: समस्त टीकाकारों - मेधातिथि, कुल्लूक, गोविन्दराज सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, रामचन्द्र, मणिराम, भारुचि आदि, ने पांच प्रकार के "गुप्तचरों से लगाया है- कापटिक, उदास्थित, गृहपति, व्यापारी तथा तापस ।[46] इनकी विशेषतायें टीकाकारों ने इस प्रकार बताई है-

1. कापटिक- जो दूसरे के मर्म को जाने, जिसके शिष्य प्रगल्भ हों, जो कपट व्यवहार में निपुण हो तथा जो जीविका का अभिलाषी हो। ऐसे गुप्तचर को राजा धन एवं सम्मान देकर संतुष्ट करे तथा फिर उससे इस प्रकार कहे- "तुम जिसका बुरा आचरण देखो उसको मुझसे शीघ्र कहो। "अर्थशास्त्र में कहा गया है दूसरों के भेद जानने में निपुण, ढीठ एवं छात्रवेषधारी गुप्तचरों को कापटिक कहते हैं।[47] मेधातिथि तथा कुल्लूक भी यही विशेषता बताते हैं।

2. उदास्थित- अर्थशास्त्र के अनुसार बुद्धिमान्, शुद्ध हृदय तथा सन्यासी वेषधारी गुप्तचर उदास्थित कहलाता है।[48] मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार पतित सन्यासी, लोक में प्रसिद्ध दोष वाला, शुद्ध अन्त:करण वाला गुप्तचर उदास्थित है। बताया गया है कि जीविका के इच्छुक ऐसे व्यक्ति से राजा

पूर्ववत् रहे तथा जिस मठ में अधिक आय हो वहां उसे नियुक्त कर दे तथा अधिक उपजाऊ भूमि उसे प्रदान कर दे। उस व्यक्ति को राजा के गुप्तचरों का काम करने वाले अन्य सन्यासियों को भी अन्न वस्त्र देकर उनसे राजा का काम करवाना होता था। इनके विषय में अर्थशास्त्र में कहा गया है " बहुत सा धन तथा बहुत से शिष्यों को साथ लेकर वह उदास्थित वाणिज्य कर्म के लिये निर्धारित स्थान पर जाकर अपने शिष्यों द्वारा वार्ता कर्म अर्थात् कृषि, पशुपालन, वाणिज्य कराये। उस व्यापार से जो लाभ हो उससे बौद्ध, जैन तथा पाशुपत आदि सब तरह के साधुओं के भोजन और आवास की व्यवस्था करे। जो साधु उससे भोजनाच्छादन आदि चाहे उनसे वह उदास्थित गुप्तचर फुसलाकर कहे- "तुम जिस वेश में हो उसी में रहते हुए राजा का कार्य करो और भत्ता वेतन लेने के लिये मेरे पास चले आया करो।" इसी प्रकार वे सभी साधु अपनी-अपनी जमात को फुसलाकर अपने वश में रखे। मेधातिथि तथा कुल्लूक भी उदास्थित के इन्हीं कार्यों का उल्लेख करते हैं।

3. गृहपति- जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इससे तात्पर्य इन गुप्तचरों से है जो कृषक एवं गृहस्थ वेश में विचरण किया करते थे। कहा गया है कि दरिद्र किन्तु बुद्धिमान तथा शुद्ध अन्तःकरण वाला किसान गृहस्थ गुप्तचर कहलाता है।[49] वह कृषि के लिये नियत भूमि पर रहता हुआ पूर्वोक्त उदास्थित के समान ही किसानों को अपने वश में रखने का काम करे।

4. व्यापारी- वृत्ति अर्थात् जीविका से हीन किन्तु बुद्धिमान और शुद्ध हृदय वाले वैश्य को वैदेहक गुप्तचर कहलाता है।[50] मेधातिथि तथा कुल्लूक के

अनुसार वह वाणिज्य व्यवसाय करते हुए पूर्वोक्त विधि से अपने व्यवहार द्वारा समस्त वैश्यों को अपने नियंत्रण में रखे।

5. <u>तापस</u>- मुण्डित सिर तथा जटाधारी वेष में रहने वाला व्यक्ति यदि अपनी जीविका के लिये राजकार्य करता है तो वह तापस व्यंजन गुप्तचर कहा जाता है।[51] इस प्रकार के व्यक्ति को राजा कापाटिक के समान उपदेश दे और फिर किसी आश्रम, मठ या मन्दिर में नियुक्त कर दे। वहाँ रहते हुए वह अन्य कपट शिष्यों के साथ राजा का कार्य करे। उसके विषय में कहा गया है कि वह माह में एक बार या दो महीने में एक बार शाक पात प्रत्यक्षतः ग्रहण करे किन्तु एकान्त में भोजन करे। उसके अनुयायी उसकी सिद्धि का प्रचार करने के लिये उसकी विधिवत् पूजा-सत्कार करे तथा जनता में प्रचार करे कि "यह सिद्ध पुरुष भविष्य में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति विपत्ति की सब बातें बता देता है।" जब अपना भविष्य पूछने वाले लोग वहाँ आये तो वह तापस गुप्तचर अपनी बुद्धि बल से पूछने वाले के अंकचिन्ह देखकर पहले ही से पता लगाये हुए शिष्यों के संकेत से भूतकाल की बात बताये। इसके अतिरिक्त प्रश्नकर्त्ता को अल्पलाभ, अग्निदाह और चोरी की संभावना भी बताये। राजद्रोहियों के बध, राजा की प्रसन्नता में बड़ा उपहार, विदेश में घटी घटनाओं का विवरण अथवा राजा के संभावित आदेश के विषय में भी प्रश्नोत्तर के प्रसंग में बताये। उस तापस गुप्तचर के शिष्य गुरुकी बात को यथार्थ कर दें। गुप्तचरों की सूचना के अनुसार यदि कोई बुद्धिमान या शक्ति - शाली पुरुष किसी कारणवश राजा पर कुपित ज्ञात हो तो मन्त्रियों को चाहिए कि धन एवं सम्मान देकर उसे शान्त कर दे किन्तु यदि वह अकारण

युद्ध हो तो उनका बध करा दिया जाय।

उल्लेखनीय है कि मनु के टीकाकार पंचवर्ग गुप्तचरों की जो परिभाषा देते हैं तथा उनके जिन कार्यों की विवेचना करते हैं उन्हें उसी रूप में कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।[52] वह भी "पंचसंस्था:" का प्रयोग करता है जिसमें कापाटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक तथा तापस को शामिल करता है। अत: कौटिल्य का पंचसंस्था मनु के पंचवर्ग का ही समानार्थी है। सोमदेव ने चौंतीस प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख किया है।[53] मनुस्मृति में गुप्तचरों की कार्य पद्धति के विषय में भी कुछ सूचना दी गयी है। बताया गया है कि गुप्तचर तीन प्रकार की लालच देकर चोरों सैनिकों के सम्मुख प्रस्तुत करे ताकि उन्हें गिरफ्तार किया जा सके।[54]

1. भक्ष्य-भोज्य पदार्थों का लोभ। इस विषय में कुल्लूक का कथन है कि वे चोरों से कहें कि "तुम लोग मेरे यहां या अमुक स्थान पर आओ, हम सब एक साथ चलकर उत्तमोत्तम पदार्थ भोजन करेंगे।
2. ब्राह्मण- दर्शन- इसके अन्तर्गत यह कहा जाय कि किसी खास स्थान में सब बातों के ज्ञाता एक सिद्ध ब्राह्मण रहते हैं जिनके दर्शन से सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं।
3. शौर्यकर्म का बहाना बनाना- गुप्तचर चोरों के बीच यह प्रचारित करे कि अमुक स्थान पर एक ऐसा बलवान व्यक्ति रहता है जो अकेला बहुत से लोगों के साथ युद्ध कर सकने में समर्थ है। हम सभी को चलकर उससे मिलना चाहिए।

बताया गया है कि यदि चोरादि इन प्रलोभनों को सुनने के बाद भी निश्चित स्थान पर एकत्र न हों तथा अपने पकड़े जाने की आशङ्कावश गुप्तचरों से बचते फिरे तो ऐसी स्थिति में राजा अपने गुप्तचरों से उनके विषय में जान कर उन पर आक्रमण करे तथा मित्रों, ज्ञाति एवं बान्धवों सहित उन्हें दण्डित करे।[55] अर्थशास्त्र से पता चलता है कि गुप्तचरों को इस प्रकार नियोजित किया जाता था कि वे स्वयं भी परस्पर मिलने नहीं पावें। केवल एक गुप्तचर यदि कोई सूचना दे तो उसे विश्वसनीय नहीं मानना चाहिए। अपितु तीन गुप्चरों की बात यदि मिलती-जुलती हो तभी उस पर विश्वास किया जाना चाहिए।[56] गुप्तचरों को "उभयवेतनाः" अर्थात् दो स्थानों से वेतन प्राप्त करने वाले बताया गया है। इससे सूचित होता है यदि गुप्तचर किसी शत्रु राज्य में जाते थे तो वहां के राजा से हिल-मिल जाते तथा उससे भी वेतनादि ग्रहण करने लगते थे। गलत सूचना देने वाले गुप्तचरों को दण्डित किये जाने का भी विधान था। ऐसे गुप्तचरों को उनके पद से हटा दिया जाता था या फिर, अन्य कर्मचारियों जैसा ही उन्हें भी दण्ड मिलता था। गुप्तचरों के कार्यों की देख रेख करने के लिये उनके ऊपर भी गुप्तचर रखने का प्रावधान किया गया था।

अर्थशास्त्र में गुप्तचर विभाग के किसी वरिष्ठ अधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता। आश्चर्य का विषय है कि संतुलित एवं सर्वगत गुप्तचर व्यवस्था के प्रणेता कौटिल्य ने इस संगठन की अनेकों ईकाइयों का विभागीय एकीकरण नहीं किया है।[57] अग्निपुराण[58] में सर्वप्रथम "चाराध्यक्ष" नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। सोमदेव इस संगठन के प्रमुख अधिकारी "गूढपुरुषाधिष्ठापक"

को "चरिष्ठक" कहते हैं।[59] ऐसा प्रतीत होता है कि नवीं शती के पूर्व तक गुप्तचर राजा के प्रत्यक्ष निर्देशन में कार्य करते थे। तत्पश्चात् इस संस्था के लिये मुख्य अधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी। चरिष्ठ अधिकारी ही गुप्तचरों को राजा के सामने समाचार ज्ञापन के लिये प्रस्तुत करता था।[60]

मनु की राजव्यवस्था में "पंचवर्ग" का विशेष महत्त्व है। वे लिखते है कि राजा मध्यान्ह या आधीरातको मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से रहित होकर मंत्रियों के साथ या अकेले ही गुप्तचरों की चेष्टा का चिन्तन करे। मेधातिथि तथा कुल्लूक जैसे टीकाकारों का विचार है कि वह पंचवर्ग को नियत करके शत्रु राज्य एवं अपने मंत्रियों की प्रीति एवं अप्रीति की जानकारी प्राप्त करे।[61] भारुचि लिखते है कि राजा इन्हें स्वविषय तथा पर विषय अर्थात् अपने राज्य एवं पर राज्य में स्थापित करे। गुप्तचरों के शिष्य भी गुप्तचरी का कार्य करते थे। ये सत्री नाम से प्रसिद्ध थे। कौटिल्य ने इनका उल्लेख किया है। उसी के अनुकरण पर भारुचि भी लिखते हैं कि मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, आन्तरवंशिक आदि पदाधिकारियों की गतिविधियों को जानने के निमित्त सत्रियों को लगाया जाय।

गुप्तचरों के वेतन तथा उनकी भर्ती आदि के नियमों के विषय में हमें कोई सूचना नहीं मिलती। कौटिल्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सभी प्रकार से परीक्षित कर्मचारी ही गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे तथा उनका दर्जा अमात्यों जैसा ही था।[62] राजा से कहा गया है कि वह उनकी दान-मान

से पूर्ण करे। इससे सूचित होता है कि उनके भरण-पोषण की पक्की व्यवस्था राज्य करता था तथा प्रशासन में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त था। वस्तुत: वे प्रशासनिक व्यवस्था की सफलता के आधार स्तम्भ थे।

इस प्रकार भारतीय मनीषियों ने गुप्तचर्या को राष्ट्र निर्माण एवं मानव कल्याण के लिये अभीष्ट शासन प्रणाली का एक अविभाज्य अंग माना था। सातवीं शती (675 ई0) के महाकवि माघ ने तो यहां तक लिख डाला कि जैसे व्याकरण विहीन भाषा प्राणहीन होती है उसी प्रकार गुप्चररहित राजनीति निर्जीव होती है।[63] भारतीय मनीषियों ने जनकल्याण की दृष्टि से इस विद्या की आवश्यकता को उन्मुक्त रूप से स्वीकार करते हुए तदनुरूप ही गुप्तचरों को "राजा का नेत्र"कहा।

ऋग्वेद से लेकर बारहवीं शती तक के राजशास्त्रों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि प्राचीन गुप्तचर्या आधुनिक व्यवस्था की तुलना में कहीं श्रेष्ठतर थी। अन्तर केवल यही है कि आज गुप्तचर सेवा वैज्ञानिक साधनों और तकनीकी यंत्रों से सुसज्जित है जबकि प्राचीन भारत में इन यन्त्रों के न होते हुए भी कुशल गुप्तचर राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी सभी दायित्वों का वहन करने में समर्थ थे। प्राचीन गुप्तचर प्रणाली एवं उसकी पद्धतियां इतनी विकसित थीं कि आज भी उनका उपयोगी ढंग से अनुकरण किया जा सकता है।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1· अर्थशास्त्र, 2·36

2· मनु0 7·123, 9·272

3· वही, 7·114

4· वही, 7·123

5· वही, 9·272

6· एपि0इण्डिका, 19, पृष्ठ 73

7· वही, 29·1-17

8· एपि0इण्डिका 4·23

9· अरण्य काण्ड, 31,5-10

10· शान्तिपर्व, 83·51

11· शुक्रनीतिसार,{बी0के0 सरकार द्वारा अनुदित}, पृष्ठ 46

12· ऋग्वेद, 1·24·13; 4·4·3

13· अर्थशास्त्र,1·2 एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपंञ्चरात् ।
उदासीनेच तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि ।।

14· मैक्रिन्डल: एनशेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिट्रेचर, पृ053

15· त्रिवेदी , सत्यदेव: प्राचीन भारत में गुप्तचर सेवा, पृष्ठ 36

16· कामन्दक, 12·25

17· मनु, 7·122, 153-54, 223; 9· 250-60, 298

18· वही, 9·257-261

19· वही, 7·122

20· भारुचि,7·122 अयमधिपत्तीन् सदा परिक्रामेत् नरेररक्षणाय।

तेषां च वृत्तं राजा कापटिकादिभ्य आगमयेत् ।

21· अर्थ0, 5·4·6·

22· शुक्रनीतिसार , 1·334-36

23· मनु0, 9·264·66,

शान्ति0 140·39-42,69·10

24, मनु0 7·184

25· कुल्लूक, वही 7·184- चारांश्चकापटिकादिछन्नदेशवार्ता ज्ञापनार्थम्

प्रस्थाप्य····

26· द्रोणपर्व,75·4

27· इण्डियन एण्टीक्वेरी, 20,208

28· हम्मीर-मद-मर्दन 1·6-7

29· शान्तिपर्व, 1·19·8-12

30· अर्थ0, 1·11-12

31· कामन्दक नीतिसार, 12·25-49

32· मनु0, 9·306

33· वह, 12·28

34· विष्णुधर्मोत्तर, 2·24·63, राजानश्चारचक्षुषः ।

35· उद्योग पर्व 34·34, गन्धेन गावःपश्यन्ति वेदैःपश्यन्तिब्राह्मणः ।

चारैःपश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ।।

36· मनु0 7·153

37· वही, 7·223

38· मनु0, 9·306

39· वही, 9·256

40· वही, 7·184

41· वही, 9·298

42· राय,बी0पी0: पालिटिकल आयडीयाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन
महाभारत, पृष्ठ 269-277 तथा 366

43· कामन्दक नीतिशास्त्र 12·32

44· अर्थशास्त्र 1·10,12

45· मनु0, 7·154

46· मेधातिथि, वही, कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसव्यंजना:।

47· अथ0 1·11 परमर्मज्ञ: प्रगल्भ: छात्र: कापटिक:

48,वही प्रव्रज्या प्रत्यवसित: प्रज्ञाशौच युक्त: उदास्थित: ।

49· अर्थशास्त्र,1·11, कर्षकोवृत्तिक्षीण: प्रज्ञाशौचयुक्तोगृहपतिकव्यंजन:।
सकृषिकर्मप्रदिष्टायां भूमाविति समानं पूर्वेण।

50· मेधातिथि,वही,वणिजको वृत्तिक्षीण: प्रज्ञाशौचयुक्तोवैदेहिकव्यंजन:।
सवणिक्कर्मकुर्यान्प्रदिष्टायां भूमाविति मानम्

कुल्लूक ,वही वणिजक:क्षीणवृत्ति: वैदेहिकव्यंजनस्तंपूर्ववद्धुक्त्वा धनमाना-
भ्यामात्मीकृत्य वाणिजंकारयेत् ।

51· मेधा0 मुण्डोजटिलोवा वृत्तिकाम: तापसव्यंजन:

52· अर्थशास्त्र,अधि0 1, अध्याय11

53· नीतिवाक्यामृतम्,14·8·38

54· मनु, 7·268 भक्ष्यभोज्योपदेशेन ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।

शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्यास्तेषां समागमम् ।।

55· मनु 9·269

56· अर्थशास्त्र 1·12 त्र्याणामेकवाक्ये संप्रत्यय: ।

ते उभयवेतना: ।

57· त्रिवेदी, पूर्वोक्त पृष्ठ 41

58· मिश्र बी०बी० :पालिटी इन अग्निपुराण, 120

59· यशस्तिलकचम्पू,पूर्व खण्ड {हिन्दी टीका},पृ० 252·

60· मनु 7·151·53

61· मेधातिथि 7·154, एव पंचवर्ग प्रकल्प्य परस्यात्मनश्चात्मीयादेः

पंचवर्गान्मन्त्रिपुरोहितादिनामनुरागापरागो विद्यात्

प्रवर्तते।

62· कुल्लुक वही, एवं पंचवर्ग प्रकल्प्य तेनैव पंचवर्गद्वारेण प्रतिराजस्यात्मीयानां

मामात्यादीनां चानुरागविरागौज्ञात्वा तद्रूपं चिन्तयेत।

62· 1·11, उपाधिभि: शुद्धोऽमात्यवर्गो गूढ पुरुषामुत्पादयेत् ।

63· शिशुपाल वध, 2·212

सप्तम् अध्याय

युद्ध तथा सेना.

युद्ध तथा सेना

सैन्य संगठन

राज्य की रक्षा के लिये सेना की आवश्यकता को प्रत्येक युग में स्वीकार किया गया है। इससे सुरक्षा तथा विजय दोनों कार्य निष्पादित होते थे। अतः मनु सहित समस्त विचारक राज्य की प्रकृतियों में "दण्ड" को स्थान देते हैं। दण्ड से तात्पर्य सेना से ही है। मेधातिथि के अनुसार हस्ति, अश्व, रथ तथा पदाति की सेना को दण्ड कहते हैं।[1] कुल्लूक भी यही परिभाषा देते हैं।[2] दण्ड के अतिरिक्त मनुस्मृति में कुछ स्थानों पर सेना के लिये "बल" तथा "अनीक" शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[3] सेना को दण्ड कहने से तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा राजा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है तथा यह "बल" इस लिये है कि इसी पर राज्य की शक्ति निर्भर करती है। मनु सेना को इतना अधिक महत्व देते हैं कि राजा के प्रतिदिन के कार्यक्रम में दोपहर के विश्राम के उपरान्त उसे सैनिकों, अस्त्रों तथा वाहनों, सभी का निरीक्षण करने को कहते है।[4] कामन्दक का कथन है कि बलशाली सेना के रहने पर मित्रों एवं शत्रुओं की सम्पत्ति तथा स्वयं राजा के राज्य की सीमायें बढ़ती है, उद्देश्यों की शीघ्र और मनचाही पूर्ति होती है, प्राप्त की हुई वस्तुओं की सुरक्षा होती है, शत्रु की सेनाओं का नाश होता है तथा अपनी सेनाओं की टुकड़ियां एकत्र की जा सकती हैं।[5]

मनु लिखते हैं कि राजा "अप्राप्त को दण्ड द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करे। सेना को सदा तैयार रखे..... सदा दण्ड युक्त रहने वाले राजा

से समस्त संसार डरता है, अतः राजा सभी को दण्ड द्वारा ही वश में करे।[6] कुल्लूक तथा गोविन्दराज के अनुसार राजा हस्ति, अश्व, रथ, पदाति सेना द्वारा युद्ध करता हुआ अविजित देशों की विजय प्राप्त करे। सदा दण्ड युक्त रहने से तात्पर्य मेधातिथि, कुल्लूक तथा गोविन्दराज के अनुसार यह है कि वह चतुरंगिणी सेना का सदा परेड करवा कर उसका अभ्यास बढ़ाता रहे। इससे मनु का यह मन्तव्य परिलक्षित होता है कि वे राजा को विजगीषु सम्राट का आदर्श अपनाते हुए शत्रु राज्यों तथा उनकी प्रजा को सैन्य बल द्वारा विजित किये जाने का उपदेश देते हैं। टीकाकार मेधातिथि भी विजय की इच्छा की पूर्ति तथा एकाधिपत्य को राजा की परमा सिद्धि निरूपित करते हैं।[7] मनु सेना को "षड्विध "अर्थात् छः अंगों वाली" बताते हैं।[8] मेधातिथि इसमें हस्ति, अश्व, रथ, पदाति, सेनानायक तथा कर्मकर की गणना करते हुए लिखते हैं कि कुछ लोग सेनानायक के स्थान पर कोष को पांचवा अंग मानते है जबकि कुछ कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार सेना का विभाजन निम्न लिखित छः भागों में करते हैं:

1· मौल अर्थात् वंशानुगत सैनिक।

2· भृत्य- वेतनभोगी सैनिक

3· श्रेणीबल- शिल्पियों तथा सौदागरों की सेना।

4· मित्रबल- मित्र अथवा सहायकों द्वारा प्रदत्त सेना ।

5· अमित्रबल- शत्रु राज्यों द्वारा दी गयी सेना।

6-आटविबल- बनवासियों की सेना।

उल्लेखनीय है कि इनका उल्लेख अर्थशास्त्र कामन्दक नीतिसार, अग्नि-पुराण तथा मानसोल्लास में प्राप्त होता है।[9] सेना के इन प्रकारों का उल्लेख बल्लभी के मैत्रक वंशी नरेश ध्रुवसेन प्रथम के शिलालेख मे भी मिलता है।[10] कुल्लूक तथा गोविन्दराज के अनुसार षडांगों में गज, अश्व, रथ, पैदल, सेनानायक तथा कर्मकार सम्मिलित थे। मनु राजा को सलाह देते हैं कि वह इन सभी अंगों को संतुष्ट करने के उपरान्त ही शत्रु देश की ओर प्रस्थान करे। कुल्लूक लिखते हैं कि राजा सैनिकों को यथोचित आहार, मान-सम्मान, औषधि आदि से संतुष्ट करे।

सैन्य अभियान के प्रसंग में तीन प्रकार के मार्गों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[11] मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार तीन प्रकार के मार्ग हैं-

1. जांगल- इसका तात्पर्य समतल भूमि से है।
2. आनूप- जलप्राय भूमि को आनूप कहा गया है।
3. आटविक- इसका अर्थ है वन-प्रदेश की भूमि।

कहा गया है कि राजा इन तीनों को संशोधित कराये। इससे तात्पर्य यह है कि मार्ग में पड़ने वाले लता, झाड़ी, कंटक आदि को कटवाकर तथा नीची-ऊँची भूमि को समतल बनाकर उसे आवागमन के योग्य बनाना चाहिए।

मनु लिखते है कि युद्ध तभी प्रारम्भ किया जाना चाहिए जबकि राजा को साम, दाम(दान) तथा भेद द्वारा शत्रु को अपने पक्ष में करने में सफलता न मिले।[12] बताया गया है कि विजगीषु राजा शत्रु को मित्र बनाकर तथा उससे सुवर्ण भूमि लेकर और इन्हें यात्रा के तीन प्रकार के फल मानते हुए यत्नपूर्वक उसके साथ सन्धि करके वापस लौटे।[13] गोविन्दराज तथा कुल्लूक के

अनुसार इसका अर्थ यह है कि यदि शत्रु संधि करना चाहे, उपहार दे तथा अपना कुछ भूभाग छोड़ने को तैयार हो तो विजगीषु राजा उसके साथ यथार्थत: युद्ध न करके संधि कर ले तथा अपने राज्य वापस लौट जाय।[14]

मनु अभियान का सर्वोत्तम समय वसन्त अथवा हेमन्त ऋतु मानते हैं।[15] इस पर व्याख्या करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि इस समय तैयार फसलों से भरपूर लाभ प्राप्त किया जा सकता है।[16] कुल्लुक भी सैन्य अभियान का प्रमुख लक्ष्य धन प्राप्ति बताते हैं।[17] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य कालों में युद्ध न किया जाय। मनु निम्नलिखित परिस्थितियों में शत्रु पर आक्रमण करने का विधान करते हैं--

1· जब विजय प्राप्त करने की निश्चित आशा हो।

2· जब शत्रु पर कोई विपत्ति पड़ी हो।

3· जब राजा की सेना शक्तिशाली हो।[18]

यही बात शान्तिपर्व में भी कही गयी है। जब कोई मंत्री, पुरोहित, सेनापति या युवराज क्रुद्ध होता है या राजा से अप्रसन्न होता है, तब अन्त: विपत्तियों का जागरण होता है। ऐसी स्थिति में राजा को अपना दोष मान लेना चाहिए या शत्रु-आक्रमण की ओर संकेत करके सब कुछ शान्त कर देना चाहिए। मनुस्मृति में यह भी बताया गया है कि शत्रु देश पर आक्रमण करने के पूर्व राजा को अपनी राजधानी की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लेना चाहिए। तदनुसार "अपने मूल में प्रधान पुरुष को नियत करके, यात्रा के उपयोगी वस्तुओं की यथोचित व्यवस्था करके, पराये राज्य में अधिष्ठान का संग्रह करके, गुप्तचरों को भलीभांति नियुक्त करके, त्रिविध मार्गों को साफ

करके तथा अपने षडाङ्ग बल को प्रसन्न करके संग्रामयोग्य विधि से राजा धीरे धीरे शत्रु देश की ओर बढ़े।[19] मेधातिथि तथा कुल्लूक "मूल" का अर्थ स्वराष्ट्र तथा दुर्ग लगाते हुए लिखते हैं कि राजा को इनकी रक्षा के निमित्त प्रधान पुरुष से युक्त सेना का एक भाग रखना चाहिए। यात्रोपयोगी वस्तुओं से तात्पर्य मेधातिथि हस्ति, अश्वादि बल तथा कुल्लूक शास्त्रोक्त वाहन, शस्त्र, कवच आदि लगाते हैं। आस्पद या आधार प्राप्त करने का अर्थ मेधातिथि गोविन्दराज तथा कुल्लूक के अनुसार शत्रु के भृत्यादि (जो अपने स्वामी से रुष्ट हों)को अपने वश में करना है जब कि सर्वज्ञनारायण इससे तात्पर्य शत्रु देश में शिविर स्थापित करना बताते हैं।

सैन्य अभियान के ही प्रसंग में मनु छ: प्रकार के व्यूह का भी उल्लेख करते हैं।[20] दण्डव्यूह, शकटव्यूह, बाराह व्यूह, मकर व्यूह, सूचीव्यूह तथा गरुड़ व्यूह। कहा गया है कि मार्ग में भय रहने पर राजा को इनमें से किसी एक के अनुसार सेना को आगे बढ़ाना चाहिए। कुल्लूक[21] इनकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं--

1· दण्डव्यूह- आगे बलाध्यक्ष, बीच में राजा, पीछे सेनापति, दोनों पार्श्वों में हाथी, उनके पास घोड़े और उन घोड़ों के पास में पैदल सैनिक- इस प्रकार दण्ड के समान बराबर तथा लम्बी सेना की रचना दण्डव्यूह है।

2· शकटव्यूह- आगे के भागों में पतली तथा पीछे के भागों में फैली हुई, अत: गाड़ी के समान सेना की रचना शकटव्यूह है।

3· वराह व्यूह- आगे तथा पीछे के भागों में पतली तथा मध्य भाग में फैली हुई सेना की रचना को वराह व्यूह कहते हैं।

4· मकर व्यूह- वराह व्यूह के विपरीत अर्थात् आगे तथा पीछे के भागों में फैली हुई तथा मध्यभाग में पतली सेना की रचना मकर व्यूह है।

5· सूची व्यूह- चींटियों की पंक्ति के समान आगे-पीछे सटी हुई जिससे कभी कोई आगे पीछे न हो तथा शूरवीर पुरुष अग्रभाग में रहे- ऐसी सेना की रचना सूची व्यूह है।

6· गरुड़ व्यूह- अग्र भाग सूक्ष्म, पिछला भाग मोटा तथा मध्य भाग अत्यन्त मोटा हो- वह सेना गरुड़व्यूह है।

7· पद्मव्यूह- जिस सेना का विस्तार चारों ओर समान हो तथा मध्य में विजगीषु राजा हो उसकी रचना को पद्मव्यूह कहा गया है। राजा को सलाह दी गयी है कि वह सर्वदा इसी से शत्रु देश में प्रवेश करे।

इस विवरण से प्रकट होता है कि राजा सेना को अत्यन्त व्यवस्थित करके युद्ध करता था। कौटिल्य एवं कामन्दक ने भी इन व्यूहों का विस्तृत विवरण दिया है[22] महाभारत में बहुत से व्यूहों का वर्णन मिलता है। आश्रमवासिक पर्व में शकट, पद्म एवं वज्र का उल्लेख है। द्रोण एवं कर्ण पर्व में मकर, शकट आदि व्यूहों का वर्णन किया गया है। मानसोल्लास[23] एवं अग्निपुराण[24] भी इनकी चर्चा करते हैं। व्यूह की यह अवधारणा बारहवीं शती तक प्रचलित रही। कृत्यकल्पतरू में भी सूची, वज्र, हंस पद्म, दण्ड आदि व्यूह बताये गये हैं।[25] हर्षचरित[26] में युद्ध के लिये प्रस्थान करते हुए पंक्ति-

बद्ध सैन्य दल का उल्लेख मिलता है तथा इसकी तुलना तेज धारा में बहती हुई नाव से की गई है। व्यूह का उल्लेख यह सूचित करता है कि सैनिक प्रशिक्षित एवं अनुशासित होते थे। पी0सी0 चक्रवर्ती का यह विचार कि भारतीय सेना सदा अव्यवस्थित ढंग से गमन करती थी, प्राचीन भारत के संदर्भ में तर्कसंगत नही प्रतीत होता।[27]

प्राचीन काल मे सैनिकों की निष्ठा, राज्य के प्रति होती थी और वे पूरे मनोयोग से युद्ध करते थे। इसका संकेत हमें अर्थशास्त्र में मिलता है। एक स्थान पर विजगीषु राजा संगठित सेना के सामने उपस्थित होकर संबोधित करता है- "मै राजा नहीं बल्कि आप ही लोगों के समान वेतन भोगी एक व्यक्ति हूँ। अत: मुझे जो लाभ होगा उसमें आपका भी समान भाग रहेगा। युद्ध में जीते गये राज्य को हम और आप सभी लोग एक साथ मिलकर भोगेगें। अत: मैं जिस शत्रु पर आक्रमण करूं उस पर आप सब भी तुरन्त आक्रमण कर दें।[28] ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमश: इस आदर्श में परिवर्तन हुआ तथा सैनिकों की निष्ठा स्वयं के प्रति होने लगी। नवीं शती में मेधातिथि ने व्यक्तिगत निष्ठा को एक योद्धा के लिये सर्वोच्च आदर्श निरूपित किया।[29] कुल्लूक भी इसी की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि राजा सैनिकों को यह कहते हुए प्रोत्साहित करे कि "यदि वे युद्ध में जीतेंगे तो धर्म लाभ होगा, लड़ते हुए मारे जायेंगे तो स्वर्ग प्राप्त होगा और यदि युद्ध से भागेगे तो स्वामी के पाप के भागी तथा नरकगामी होगे तथा उनका अपयश होगा।"[30] इस प्रकार अब सैनिक राज्य के प्रति निष्ठावान न होकर अपने स्वामी के प्रति ही निष्ठा रखने तथा उनकी भावनाओं के अनुसार ही युद्ध

करने लगे। स्वामी के प्रति निष्ठा सामन्ती प्रतिष्ठा का अभिन्न अंग बन गयी। राजतरंगिणी[31] तथा द्वाश्रय-महाकाव्य[32] में हमें सरदारों तथा योद्धाओं को अपने स्वामियों के लिये युद्ध करने के कई उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं।

मनु युद्ध में प्रयुक्त होने वाले वाहनों एवं अस्त्रशस्त्रों का भी उल्लेख करते हैं। बताया गया है कि "समतल भूमि में रथ और घोड़ों से, जलप्राय भूमि में नाव और हाथियों से, पेड़ तथा झाड़ियों से युक्त भूमि में धनुष-बाण तथा कंकड़ पत्थर आदि से रहित साफ सुथरी भूमि में चर्मायुध अर्थात् ढाल, तलवार, भाला, बर्छा आदि से युद्ध करना चाहिए।[33] प्राचीनकाल में हाथी तथा घोड़े युद्ध के प्रमुख वाहन थे। सेना के परम्परागत चार अंगों-- अश्व, गज, रथ तथा पैदल के अतिरिक्त मनु द्वारा नावों के उल्लेख से सूचित होता है कि उस समय नौ-सेना भी थी। अर्थशास्त्र से भी पता चलता है कि मौर्यों के पास शक्तिशाली नौसेना थी, जिसका प्रधान नवाध्यक्ष होता है। जहां तक रथों का प्रश्न है हम पाते हैं कि आठवीं शती के बाद के किसी भी स्वदेशी अथवा विदेशी विवरण में इनका उल्लेख नहीं मिलता। इससे सूचित होता है कि इस समय तक सेना में इनका प्रयोग बन्द हो गया था।[34] युद्ध के परम्परागत अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण, ढाल-तलवार, भाला-बर्छा आदि थे। इनमें भी धनुष-बाण सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वप्रमुख था। उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत में युद्ध विद्या को ही "धनुर्वेद" कहा जाता था। क्लासिकल लेखक एरियन लिखता है कि भारतीय धनुर्धर अचूक था और उसके निशाने को कोई भी वस्तु ढाल अथवा कवच रोक नहीं सकता था।[35] किन्तु राजपूत काल में धनुष-बाण

का महत्त्व घट गया तथा उसका स्थान तलवार एवं ढाल ने ग्रहण कर लिया। हाश्रय में उत्तीत प्रकार के परम्परागत अस्त्र-शस्त्रों की सूची दी गयी है।[36] अस्त्र-शस्त्रों की यह पारम्परिक संख्या रूढ हो गयी थी।

मनु के विवरण से पता चलता है कि सैनिक मुख्यत: कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल, शूरसेन आदि जनपदों से लिये जाते थे। ये लम्बे कदवाले होते थे तथा इन्हें सेना के अग्रभाग में रखा जाता था।[37] शान्तिपर्व में कहा गया है कि साहसी और शुद्ध व्यक्ति सभी स्थानों में पाये जा सकते हैं, किन्तु सीमा-प्रान्तों के मनुष्य प्राणों की बाजी लगाकर लड़ते हैं और युद्ध क्षेत्र से कभी नहीं भागते। अत: उन्हें सेना में भर्ती करना चाहिए।[38]

दुर्ग-विधान-

प्राचीन भारत में सुरक्षा के निमित्त सेना के साथ-साथ दुर्ग का भी महत्त्व था जिससे जन, समाज, राज्य तथा धन की रक्षा की जाती थी।[39] याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एवं कोष की रक्षा होती है (जनकोशात्मगुप्तये)।[40] राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत बृहस्पति में कहा गया है कि अपनी, अपनी रानियों, प्रजा एवं एकत्र की हुई सम्पत्ति की रक्षा के लिये राजा को चाहिए कि प्राकारों एवं द्वार से युक्त दुर्गों का निर्माण करवाये।[41] कौटिल्य ने स्थान के आधार पर दुर्गों का वर्गीकरण किया है- पर्वत दुर्ग, औदक (जल) दुर्ग, धान्वन (मरुस्थलीय) दुर्ग तथा वन दुर्ग। उसके अनुसार प्रथम दो प्रकार के दुर्ग जल संकुल स्थानों की सुरक्षा के लिये है जबकि बाद के दो जंगलों की रक्षा के लिये।[42] मनु इसी परम्परा का अनुकरण करते हुए छ: प्रकार के दुर्गों का उल्लेख करते हैं- धन्वदुर्ग, महीदुर्ग,

जल दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, नृ दुर्ग तथा गिरि दुर्ग।[43] कुल्लूक ने इनकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है-

1-धन्व-दुर्ग- कम से कम बीस कोस तक पानी और हरियाली एवं वृक्ष-घास आदि से रहित स्थान में स्थित दुर्ग धन्वदुर्ग है।

2. मही-दुर्ग- ईंट पत्थर आदि उबड़-खाबड़ होने से विषम, युद्ध के लिये अयोग्य तथा गुप्त गवाक्ष वाले परकोटा आदि से युक्त भूमि वाले स्थान पर निर्मित मही-दुर्ग होता है। कौटिल्य ने इन दोनों दुर्गों को एक ही स्थान माना है।

3. जल-दुर्ग- जिसके चारों ओर काफी दूर तक अगाध जल भरा हो अथवा जिसके चारों ओर बहुत गहरी खाई खुदी हो।

4. वृक्ष-दुर्ग- कम से कम चार कोस तक सघन बड़े वृक्षों, कटीली झाड़ियों लताओं तथा विषम नदी नाले आदि से युक्त स्थान में निर्मित दुर्ग।

5. नृदुर्ग- इसके चारों ओर हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सेना एवं दूसरे बहुत से मनुष्य होते हैं।

6. गिरि-दुर्ग- अत्यधिक कठिनाई से चढ़ने योग्य तथा अधिक संकीर्ण मार्ग होने के कारण बहुत कठिनाई से प्रविष्ट करने योग्य नदियों, झरनों, तालों पर्वतों से युक्त स्थान में यह स्थित होता है।

शान्तिपर्व, विष्णुधर्म-सूत्र, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, शुक्रनीति तथा मानसार में भी दुर्ग संबंधी मनु के विधान का अनुकरण किया गया है।[44] मनु ने सभी दुर्गों में गिरि-दुर्ग को उसके गुणों के कारण श्रेष्ठ कहा गया है तथा राजा को सलाह दी गयी है कि वह सब प्रयत्न करके इसी

दुर्ग में शरण ले। बताया गया है कि धन्वदुर्ग में मृग, महीदुर्ग में चूहे आदि जल-दुर्ग में मत्स्य, मगर आदि, वृक्ष-दुर्ग में वानर तथा नृदुर्ग में मनुष्य आदि तंग करते हैं। गिरि-दुर्ग को देवताओं का निवास कहा गया है। दुर्ग का महत्व बताते हुए मनु लिखते हैं कि दुर्ग में निवास करने वाले राजा को शत्रु नहीं जीत सकते। दुर्ग में रहने वाला एक धनुर्धारी योद्धा सौ योद्धाओं से तथा सौ धनुर्धारी योद्धा एक हजार योद्धाओं से लड़ सकते हैं। इसी कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग की प्रशंसा करते हैं।[45] टीकाकार मेधातिथि राजा को सलाह देते है कि सुरक्षा संबंधी उपर्युक्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उसे दुर्गों का निर्माण करवाना चाहिए।[46] यह भी बताया गया है कि उस दुर्ग को शस्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, कारीगरो, यन्त्रों चारा और जल से संयुक्त रखना चाहिए।[47] नीतिवाक्यामृत का कथन है कि दुर्ग में गुप्त सुरंग होनी चाहिए जिससे गुप्त रूप से निकला जा सके, नहीं तो वह बन्दी-गृह जैसा हो जायेगा। इसमें वे लोग ही आने-जाने पाये जिनके पास संकेत-चिन्ह हो और जिनकी तलाशी अच्छी तरह से ले ली गयी हो।[48] शस्त्रों के विषय में मेधातिथि का विचार है कि ये आक्रमणात्मक होने चाहिए, जैसे तलवार, धनुष आदि, न कि सुरक्षात्मक जैसे शिरस्त्राण आदि। यन्त्रों से तात्पर्य टीकाकार प्रक्षेपास्त्रों से लेते हैं। कृत्यकल्पतरु में भी दुर्गों में रखी जाने वाली सामग्रियों एवं साज सामानों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इनमें सभी प्रकार के शिल्पी, सैनिक, पशु, हस्ति, अश्व, युद्ध के अस्त्र शस्त्र, मशीने आदि सम्मिलित है। इससेस्पष्ट होता है कि दुर्गों का युद्ध के समय अत्यधिक महत्व होता था। मनु के लगभग सभी टीकाकारों का समय पूर्व मध्यकाल (लगभग 900-1300 ई0) में पड़ता है। इस समय उत्तर भारत में

कई राजपूत राजवंश थे जो तुर्कों के साथ लड़ने के साथ ही साथ आपस में भी संघर्ष कर रहे थे। उल्लेखनीय है कि इस काल के शासकों ने अनेक दुर्गों का निर्माण करवाया तथा युद्ध के समय उनका आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक दोनों ही महत्व होता था।[49] कश्मीर, भटिण्डा, कांगड़ा, चित्तौड़ गढ़, रणथम्भौर, मन्दोर, ग्वालियर, कालिंजर, अजयगढ़, महोबा आदि में इस समय सुदृढ़ दुर्ग थे। युद्ध में दुर्गों की घेरेबन्दी का भी महत्व होता था। कौटिल्य दुर्ग पर अधिकार करने की पांच विधियां बताता है-

1- उपजाप- शत्रु पक्ष के लोगों में फूट डालना।

2- अपसर्प- शत्रु राज्य में गुप्चरों को भेजकर जासूसी करना।

3- वामन- शत्रु को अपने दुर्ग से बाहर निकालने को बाध्य करना।

4- पर्युपासन- शत्रु के दुर्ग को चारों ओर से घेरना।

5- अवमर्द- शत्रु के दुर्ग को ध्वस्त कर देना।

पूर्वमध्यकालीन समाज में जब शौर्य भावना अत्यन्त बलवती हो गयी तो अन्तिम दो उपायों- पर्युपासन तथा अवमर्द, द्वारा दुर्ग पर नियंत्रण करना आम बात हो गयी थी। मनु दुर्ग को धनधान्य, जल, चारा आदि से परिपूर्ण रखने की जो सलाह देते हैं उसके पीछे यही भाव निहित है कि यदि शत्रु दुर्ग की घेरेबन्दी करे तो भीतर बैठे लोग लम्बे समय तक अपने को सुरक्षित रखते हुए अपना निर्वाह कर सके। राजपूत काल में हम दुर्गों की दीर्घकालीन घेरेबन्दी के कई उदाहरण प्राप्त करते हैं। युद्ध अधिकांशतः आमने-सामने लड़े जाते थे। यह अपेक्षा की जाती थी, कि समान अस्त्र-शस्त्र धारण करने वाले योद्धा ही परस्पर युद्ध करें। चक्रवर्ती[52] की धारणा है कि युद्ध करने की

यह पद्धति सम्पूर्ण प्राचीन तथा पूर्वमध्यकाल में प्रचलित थी। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में कूट अथवा कपट युद्ध को प्रत्यक्ष युद्ध से श्रेष्ठतर बताया गया है [53] तथापि टीकाकारों के काल में हम इसकी पूर्ण उपेक्षा देखते हैं। लक्ष्मीधर धर्मयुद्ध को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तथा कूटयुद्ध की चर्चा तक नहीं करते। [54] चूंकि लक्ष्मीधर गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के प्रधान मंत्री थे, अत: उनके द्वारा कूट युद्ध की उपेक्षा किया जाना तत्कालीन वस्तुस्थिति की ओर संकेत करता हुआ जान पड़ता है।

युद्ध तथा प्रजा-

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि युद्ध तथा सैनिक अभियानों का आम जनजीवन पर क्या प्रभाव पड़ता था। मेगस्थनीज [55] के विवरण से पता चलता है कि मौर्यकाल में जब सेना युद्ध करती रहती थी तो पड़ोस में कृषक बिना किसी भय के अपने खेतों में काम करते रहते थे और सैनिक उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाते थे। प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णित धर्मयुद्ध के आदर्श का पालन, जिसमें युद्ध के समय मानवीय आचार पर बल दिया गया, प्राय: बारहवीं शती तक शासकों द्वारा किया जाता रहा। गौतम का कथन है कि जिन्होंने अश्व, सारथि, आयुध खो दिये हों, जिन्होंने हाथ जोड़ लिये हों, जिनके केश बिखर गये हों, जिन्होंने पीठ दिखा दी हो, जो भूमि पर बैठ गया हो, जो (भागते-भागते) पेड़ पर चढ़ गया हो, जो दूत हो, जो गाय या ब्राह्मण हो, इनको छोड़कर किसी अन्य को युद्ध भूमि में मारना या घायल करना पाप नहीं होता है।" [56] बौधायन विषाक्त बाणों से मारना निषिद्ध करते हैं। [57] यही बात महाभारत में भी कही गयी है। शान्तिपर्व में तो

यहाँ तक कहा गया है कि घायल हुए शत्रु पक्ष के सैनिक का उपचार करना चाहिए तथा अच्छा होने पर उसे जाने देना चाहिए। यह भी कहा गया है कि युद्ध में बच्चे, बूढ़े या पीछे से किसी को नहीं मारना चाहिए न ही उसे, मारना चाहिए जिसने मुंह में तिनका ले लिया हो अर्थात् हार मान कर प्राणों की भिक्षा मांग रहा हो।[58] आपस्तम्भ, याज्ञवल्क्य, बृहद्हारीत शुक्रनीतिसार आदि में भी युद्ध संबंधी उदात्त नियमों का विवरण दिया गया है।[59] मनुस्मृति में भी युद्ध के समय अपनाये जाने वाले मानवीय आचरणों की ओर संकेत किया गया है। तदनुसार- "युद्ध करता हुआ राजा या कोई योद्धा कूटशस्त्र, कार्णि के आकार वाला फल युक्त बाण, विष में बुझे बाण अथवा अग्नि में तपाये हुए अग्रभाग वाले शस्त्रों से शत्रुओं को न मारे। रथासीन योद्धा भूमि पर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए तथा शरणागत योद्धा की हत्या न करे। सोये हुए, कवच विहीन, नंगा शस्त्र रहित, युद्ध नहीं करते हुए, युद्ध को केवल देखते हुए तथा परस्पर भिड़े हुए योद्धा को न मारे। अपने शस्त्रार्थ के टूटने से खिन्न, पुत्रादिशोक से आर्त्त, अत्यन्त घायल, भयभीत तथा युद्ध विमुख योद्धा की हत्या क्षत्रिय धर्म का अनुसरण करते हुए नहीं करनी चाहिए।"[60] टीकाकार मेधातिथि इन नियमों के उल्लंघन को प्रत्यवाय अर्थात् पाप कहते हैं।[61] महाभारत के भीष्मपर्व में कहा गया है कि विजेता लोग अपनी सेनाओं एवं शक्ति से विजय नहीं प्राप्त करते बल्कि अपनी सच्चाई अत्याचाराभाव, धर्माचरण एवं शान्तिपूर्ण क्रियाओं से विजय प्राप्त करते हैं। शान्तिपर्व में कहा गया है कि पापपूर्ण क्रियाओं से विजय प्राप्त करने की अपेक्षा युद्ध भूमि में लड़ते हुए मर जाना श्रेयस्कर है।[62]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रों में वर्णित मानवीय युद्ध संबंधी नियम आदर्शस्वरूप ही थे तथा व्यवहारिक स्थिति इससे भिन्न रही होगी। स्वयं अर्थशास्त्र से ही प्रकट होता है कि इन नियमों का पूर्णरूपेण पालन करना कठिन था। बताया गया है कि "यदि शत्रु राज्य किसी संकट में पड़ जाय तो विजगीषु उसका संचित अन्न, फसल एवं वीवध (अन्य प्रदेश से अपने प्रदेश में अन्न आने के साधन) तथा प्रसार (किसी दूर देश से घास ईंधन आदि की आमद) को नष्ट कर दे।"[63] सैन्य अभियान के दौरान इन उपायों को न्याय संगत मानते हुए मनु भी लिखते हैं - "शत्रु देश को लूटपाट आदि से पीड़ित करे, उसके भूसा घास, अन्न, जल और ईंधन को सर्वदा नष्ट करे। उपभोग्य तड़ाग, नहर, कूप आदि को नष्ट कर दे, किले या नगर की चहारदीवारी तोड़ दे, खाई को पाट दे।[64]" इसके बावजूद स्मृति लेखक मानवीय आचरण पर अधिक बल देते हैं तथा कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि इन कठोर उपायों का अवलम्बन अन्तिम साधन के रूप में अर्थात् जब अन्य साधन असफल हो जाय तभी करना चाहिए। किन्तु पूर्व मध्य काल तक आते-आते युद्ध के दौरान, लूटपाट, प्रजापीड़न, फसलों आदि का नष्ट किया जाना, नगरों को ध्वस्त करना आदि सामान्य बातें हो गयी थी और इनका तत्कालीन स्रोतों में विवरण भी प्राप्त होता है। हर्षचरित से पता चलता है कि सामान्य लोगों के मन में युद्ध के प्रति वही घृणा थी क्यों कि अभियानों के समय कभी-कभी न केवल उनकी फसलें नष्ट हो जाती थी अपितु उन्हें बेगार के लिये भी बाध्य किया जाता था।[65] ग्यारहवीं शती की रचना तिलकमंजरी से पता चलता है कि जब सेनायें आक्रमण करती थीं तो गाँवों एवं नगरों के लोगों

में आतंक फैल जाता था।[66] सैनिक धन धान्य को लूट लेते तथा वाहन एवं खड़ी फसलों को रौंद डालते थे। क्षेमेन्द्र युद्धों की भर्त्सना करते हैं क्योंकि इनमें क्रूरता, आतंक, रक्तपात एवं प्रजापीड़न होता है।[67] मानसोल्लास में भी युद्ध के दौरान होने वाली विनाश लीला का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[68] उल्लेखनीय है कि मनु के टीकाकार मेधातिथि भी सैन्य अभियान के समय खड़ी फसलों के नष्ट किये जाने को विधि-संगत मानते हैं।[69] कल्हण ने राजतरंगिणी में कश्मीर की शाही सेनाओं द्वारा लूट-पाट किये जाने का विवरण प्रस्तुत किया है।[70] कभी कभी सेना के आक्रमण के भय से गांवों तथा नगर के निवासी अपना घर छोड़कर भाग जाते थे तथा सैनिक सामानों को लूटते एवं नगरों को जला देते थे। मदनपुर लेख (विक्रमसंवत् 1239) से सूचित होता है कि चाहमानों की सेना ने चन्देलों की राजधानी को लूटने के बाद ध्वस्त कर दिया था।[71]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों में धर्म युद्ध एवं युद्ध के समय अपनाये जाने वाले जिन आचारों का विवरण प्रस्तुत किया गया है वे आदर्श स्वरूप ही अधिक थे। वस्तुस्थिति इससे निश्चयत: भिन्न थी। यही कारण है कि मनु के एक टीकाकार गोविन्दराज इन्हें "शिष्टाचार मात्र" मानते हैं।[72]

युद्ध मे प्राप्त धन का वितरण-

मनुस्मृति में सैन्य अभियान के पश्चात् जो धन एवं अन्य सामग्रियां प्राप्त होती है उनके वितरण का भी विवरण दिया गया है।[73] बताया गया है कि रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन-धान्य (सब प्रकार के अन्न), पशु, गौ,

भैंस आदि) स्त्रियां (दासी आदि), सभी प्रकार के द्रव्य (गुड़, नमक आदि) तथा कुप्य को जो योद्धा जीतकर लाता है, वह उसी का होता है। यहां कुप्य से तात्पर्य सोना-चांदी के अतिरिक्त अन्य सभी धातुओं -तांबा, पीतल आदि से है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जो मूल्यवान वस्तु -सोना चांदी आदि सैनिकों के हाथ लगती थी उस पर राजा का ही अधिकार माना जाता था। यह भी कहा गया है कि इनमें जो वस्तु सर्वोत्तम हो वह श्रुति के अनुसार राजा को दी जानी चाहिए। मनु "उद्धारं दानेचश्रुति:" का प्रयोग करते हैं। बुलर के अनुसार इससे तात्पर्य यह है कि राजा लूटी गयी वस्तुओं का षष्ठांश प्राप्त करे।[74] हाप्किंस इसका अर्थ "सर्वोत्तम वस्तु" लगाते है तथा लिखते हैं कि इसमें स्वर्ण, रजत, भूमि आदि सम्मिलित है।[75] मेधातिथि तथा कुल्लुक दोनों ने यही विचार व्यक्त किया है कि राजा को सर्वोत्तम वस्तु दी जानी चाहिए। इस संबंध में उन्होंने इन्द्र का प्रमाण प्रस्तुत किया है जिन्होंने वृत्र नामक असुर को मारने के पश्चात् उद्धार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तु प्राप्त करने का दावा किया था।[76] टीकाकारों के अनुसार मनु जिस वैदिक ग्रन्थ की ओर संकेत करते हैं वह ऐतरेय ब्राह्मण है जिसमें इसका उल्लेख किया गया है। गौतम-धर्मसूत्र से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि युद्ध में लूटे गये माल का सर्वोत्तम राजा को मिलना चाहिए।[77] यह नियम प्रत्येक सैनिक द्वारा अलग-अलग जीती अथवा लूटी गयी सामग्रियों के संबंध में दिया गया है। किन्तु जो, सामग्रियां सम्मिलित रूप से सभी सैनिकों द्वारा प्राप्त की जांय उनके विषय में मनु का कथन है कि राजा को प्रत्येक सैनिक को उसके पुरुषार्थ के अनुसार बांट देनी चाहिए।[78] कामन्दक[79] एवं शुक्र[80] ने भी इसी प्रकार का विधान प्रस्तुत किया है।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1· मेधातिथि, 9·294: हस्त्यश्वरथपादातं दण्ड: ।

2· कुल्लूक, वही, दण्डो हस्त्यश्वरथपादातं ।

3· मनु0, 7·185, 189, 193, 194

4· वही, 7·22

5· काम0 13, 34-37

6· मनु0, 7·101-103

7· मेधातिथि, 7·1 परमाप्रकृष्टा सिद्धिर्विजिगीषोरैकाधिपत्यम् राजवृत्तस्य फलप्रतिज्ञेयम् ।

8· मनु0, 7·185

9· वही, कामन्दक, 18·4, अग्नि0 242·1-2, मानसो0 2·6 श्लोक 556

10· एपिग्राफी इण्डिका, जिल्द 11, पृष्ठ 106

11· मनु0, 7·185

12· वही, 7·198

13· वही, 7·206

14· वही, 7·206

15· मेधा0 7·182

16· मनु0, 7·182: अश्रीहगच्छन् फलं गृहादिगतं सुखं गृह्णाति, वासन्तं सस्यमुपहरति ।

17· वही, 7·182;

18· मनु0, 7·183

19· वही, 7·184-85

20· वही, 7·187

21· वही, 7·187

22· अर्थ0, 10·6,
कामन्दकनीतिसार, 18·46-49; 19·40.

23· मानसो0,2·20

24· अग्नि0 242·7-8 तथा 42-43

25· राजधर्म काण्ड, पृष्ठ 124,130

26· हर्षचरित (काणे संस्करण) पृष्ठ 58,11·13-14

27· द आर्ट आफ वार इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 102

28· अर्थशास्त्र, 10·1

29· मेधातिथि, वही, 7·89

30· कुल्लूक, वही 7·194: जयेधर्मलाभ: अभिमुखहतस्य स्वर्गप्राप्ति: पलायेन तु प्रभुदुरितग्रहणं नरकगमनं च इत्यार्थवादैर्युद्धार्थं प्रोत्साहयेत्।

31· राजतरंगिणी, 5·198, 28, 819

32· हाप्किन्स खण्ड 11, पृष्ठ 550-51

33· मनु0, 7·192

34· चक्रवर्ती, पी0सी0: पूर्वोक्त, पृष्ठ 46

35· मेक्रिन्डल, एन्शेन्ट इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज, पृष्ठ 220-21

36· हाप्किन्स0 11·51

37· मनु0, 7·193

38· शान्ति0 101·3-6

39· दीक्षितार, वी0आर0आर0, वार इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 25

40· याज्ञ0, 1·3,21

41· राजधर्मकाण्ड, पृष्ठ 28

42· अर्थशास्त्र, 2·3

43· मनु0, 7·70

44· शान्ति0 56·35 तथा 86·4-5; विष्णुधर्मसूत्र, 3·6, मत्स्य0 217·6-7
अग्नि0, 222·4-5, विष्णुधर्मोत्तर, 2·26·6-9, 3·323·16-21
शुक्र0 4·6; मानसार 10·90 तथा आगे

45· मनु0, 7·73-74

46· मेधातिथि, वही: दुर्गाणिकारयेत् ।

47· मनु0, 7·75

48· नीतिवाक्यामृत, दुर्गसमुद्देश, पृष्ठ, 199

49· चक्रवर्ती, पी0सी0, पूर्वोक्त, पृष्ठ 138

50· समरांगण0 , भूपरीक्षाखण्ड, श्लोक 20

51· अर्थशास्त्र, 13·5 उपजापोऽपसर्पोवामनंपर्युपासनम् ।
अवमर्दश्च पंचैते दुर्गलम्भस्यहेतव: ।।

52· चक्रवर्ती,पी0सी0 पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 119

53· अर्थशास्त्र, 10·1

54· कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,

55· फ्रेगमेन्ट, 1 पृष्ठ 32, स्टेबो , एन्शेन्ट इण्डिया-पृष्ठ 33

56· गौतम 10·17-18

57· बौधायन 1·10·10

58· शान्ति0 95·11, 13-14

59· आपस्तम्भ, 2·5·10·12;
यास0 1·326, बृहत्संहिता, 7·226, शुक्र0 4·5·354-52

60· मनु0, 7·90-93

61· मेधातिथि, वही, 7·90

62· भीष्म, 21·10, न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः ।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ।।

शान्ति0, 95·17-18:
धर्मेणनिधनंश्रेयोन जयः पापकर्मणा ।
नाधमश्चरितोराजन् सद्यः फलति गौरिव ।
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति ।।

63· अर्थशास्त्र, 13·4

64· मनु0· 7·195-96

65· हर्षचरित, सप्तम उच्छवास

66· तिलकमंजरी पृष्ठ 328

67· अवदान कल्पलता 111·98 तथा आगे

68· मानसोल्लास, खण्ड 1, श्लोक 1035-47

69· मनु0· 7·182

70· राज0, 8·5

71· आर्कलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 10, पृष्ठ 98

72· गोविं0 वही, 1·93 संग्रामप्रतिनिवृत्तं शिष्टाचारं स्मरन् न हन्यात्।।

73· मनु0, 7·96-97

74· सेक्रेड बुक आफ द ईस्ट, 25, पृष्ठ 23।

75· हाप्किन्स: द आर्डिनेन्सेज आफ मनु, पृष्ठ 160

76· मेधातिथि, 7·97: स्वयमुद्धारं राज्ञे दद्युरुत्तमद्रव्यमुत्कृष्टमित्यर्थः। कुल्लूक, वही उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः।

जितधनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुप्यादि राज्ञे तनर्पणीयं।

77· गौतमधर्मसूत्र 10, 20·23

78· मनु0 7·97

79· कामन्दक, 19·21-22,

80· शुक्र0 4·7·372

अष्टम् अध्याय

विधि तथा न्याय.

विधि तथा न्याय

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा में न्याय प्रजारक्षण का अभिन्न अंग है। न्याय का अर्थ है विभिन्न व्यक्तियों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय। यह न्याय जिन नियमों के अन्तर्गत वितरित किया जाता है उन्हें ही "विधि" कहा जाता है।

मनु विधि के अन्तर्गत श्रुति तथा स्मृति को सम्मिलित करते हैं क्योंकि इनमें व्यक्तिगत आचार के ही नहीं पारस्परिक विवादों के भी नियम दिये गये हैं। इन्हें विवादों के प्रसंग में "शास्त्र" कहा गया है तथा शाश्वत धर्म भी। शाश्वत धर्म के अन्तर्गत प्रथायें भी आती हैं क्योंकि वे परम्परागत रूप से चली आ रही है। मनुस्मृति में राज्य द्वारा लागू किये जाने वाले नियमों को धर्म कहा गया है। इस धर्म के चार स्रोत बताये गये हैं-

1- वेद

2- स्मृति

3- सदाचार

4- आत्मतुष्टि या अपने मन की प्रसन्नता।[1]

इनमें अन्तिम दो अर्थात् सदाचार और आत्मतुष्टि का केवल यहां उल्लेख ही किया गया है, उनका अधिक विचार नहीं किया गया है। किन्तु प्रथम दो- वेद तथा स्मृति का अधिक महत्व है। वेद का अर्थ है श्रुति (ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद भी) एवं स्मृति का अर्थ है धर्मशास्त्र अर्थात् जिन स्मृतियों के विषय में माना गया है कि उनके प्रणेता मनु आदि ऋषि हैं।[2]

बताया गया है कि इन दोनों में वर्णित धर्मों का सबको पालन करना चाहिए तथा इनमें दिया गया आचार ही परम धर्म है।[3] इनमें भी श्रुति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। स्मृति का महत्व इसी कारण है कि वह श्रुति पर आधारित है। श्रुति ऋषियों द्वारा परमात्मा से सुने हुए या साक्षात्कार किये हुए वचन हैं। स्मृतियों की वही बात धर्म है जो वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क से उचित लगती है।[4] वेदविरुद्ध दर्शन तथा स्मृतियों को मनु कोई महत्त्व नहीं देते।

मनुस्मृति में विवादों के निर्णय के लिये विधियों का संक्षेप में उल्लेख व्यवहार के विवेचन के प्रारम्भ में भी किया गया है। ये हैं-

(1) ऋण लेना

(2) धरोहर (थाती रखना)

(3) किसी वस्तु अथवा भूमि आदि का स्वामी न होने पर भी उसे बेंच देना

(4) अनेक व्यक्तियों (व्यापारियों) का मिलकर संयुक्त रूप से कार्य करना

(5) दान आदि में दी गयी सम्पत्ति या किसी वस्तु को क्रोध, लोभ या अपात्रता के कारण वापस ले लेना

(6) नौकरों का वेतन या मजदूरों को मजदूरी न देना

(7) पूर्व निर्णीत व्यवस्था (सन्धि पत्रादि) को नहीं मानना

(8) क्रय-विक्रय में विवाद उपस्थित होना

(9) स्वामी-पालक में विवाद उत्पन्न होना

(10) सीमा के विषय में विवाद होना

(11) दण्ड-पारुष्य अर्थात् अधिक मार-पीट

(12) वाक्पारुष्य अर्थात् अनाधिकार गाली देना

(13) चोरी करना

(14) अतिसाहस करना (डाका, आगजनी आदि)

(15) स्त्री संग्रहण

(16) स्त्री-पुरुष का धर्म

(17) पैतृक धन-सम्पत्ति आदि का बटवारा तथा

(18) जुआ खेलना या धन आदि की बाजी लगाकर पशु, पक्षी को लड़ाना।

उपर्युक्त अठारह स्थान व्यवहार की स्थितिमें कहे गये हैं।[5] यहाँ मुख्यत दो प्रकार की विधियों का संकेत किया गया है:-

1- नियम मूलक- इसका वर्णन शाश्वत धर्म, जाति धर्म, जनपद धर्म तथा धार्मि द्विजों को आचरण के रूप में किया गया है।[6] इनके आधार पर न्यायालय में विवाद नहीं खड़ा किया जा सकता है।

2- प्रक्रिया मूलक- "देशदृष्टैः" तथा "शास्त्रदृष्टैः" के रूप में इनका वर्णन प्राप्त होता है।[7] मेधातिथि, गोविन्दराज तथा कुल्लूक ने प्रथम का अर्थ देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार लगाया है।[8] द्वितीय से तात्पर्य शास्त्रनिर्दिष्ट प्रमाणों को, यथा साक्षी, द्रव्य आदि माना गया है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम "शाश्वत विधि" के नाम से किया गया है। इसमें श्रुति तथा स्मृतियों में दी गयी विधियां सम्मिलित हैं। कुल्लूक इनमें प्रथाओं पर आधारित धर्म को भी सम्मिलित करते हैं जिसका वर्णन जाति धर्म आदि के रूप में अलग से किया गया है तथा शास्त्र-निर्दिष्ट धर्म का उल्लेख द्विजों के आचरण के रूप में है। इस

बात पर बल दिया गया है कि दोनों धर्मों में, प्रत्येक देश, जाति, कुल के लिये उन्हीं शास्त्र नियमों को लागू करना चाहिए जो उनकी प्रथाओं के प्रतिकूल न हो। प्रक्रियामूलक विधि के वर्णन में आचार को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इससे सूचित होता है कि आचारशास्त्र, धर्मशास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। एक स्थान पर धर्म, व्यवहार तथा चरित्र को विधि के प्रकार के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।[9] उल्लेखनीय है कि इन्हें नारद-स्मृति, अर्थशास्त्र तथा अग्निपुराण में भी मान्यता दी गयी है।[10] धर्म का अर्थ है धर्मशास्त्रों के अनुसार आचरण, व्यवहार का अर्थ है विविध [वि] + संदेहों को [अव] + दूरकरना [हर] अर्थात् वे नियम जिनके द्वारा व्यक्तियों के आपसी विवादों का निर्णय हो सके तथा चरित्र का अर्थ है प्रथाओं में निर्दिष्ट नियम। शास्त्र में धर्म तथा व्यवहार दोनों ही सम्मिलित हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि विजयी राज्य, विजित राज्य के धर्म को उसी रूप में प्रमाणित करें।[11] मेधातिथि यहां धर्म से तात्पर्य प्रथाओं से लेते हैं जबकि कुल्लूक तथा गोविन्दराज इसे देश-धर्म कहते हैं।[12] इसी प्रकार एक स्थान पर राज्य द्वारा स्थापित धर्म का उल्लेख मिलता है जहां कहा गया है कि राजा जिस धर्म का विधान करे उसे किसी को उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[13] किन्तु ये नियम साधारण मामलों से संबंधित हैं जैसा कि मेधातिथि ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। जैसे- आज नगर में सब उत्सव मनाये, मंत्री के यहां विवाह में सब पहुंचे, सैनिक आज पशुओं को न मारे, इस व्यक्ति से कोई संसर्ग न करे[14]...... आदि। इससे सूचित होता है कि राजशासन अथवा राजाज्ञा महत्वपूर्ण विधि नहीं है। ये नियम धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन

कराने के लिये ही बनाये गये हैं। इसी प्रकार एक स्थल पर एक राजाज्ञा चाण्डाल या स्वपाक के विषय में दी गयी है।[15]

इस प्रकार मनु राजकीय विधि (Positive Law.) की कल्पना नहीं करते। यदि राजकीय विधि कहीं है तो वह प्रथाओं में है-- उन व्यवहार नियमों में जो राज्य द्वारा निर्मित नहीं हैं अपितु राज्य का कार्य उन्हें लागू करना मात्र है। मनु की स्पष्ट मान्यता है कि श्रुति में कहे गये सभी परस्पर विरोधी वचन भी प्रमाणिक हैं तथा विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अथवा परिस्थितियों में उनका उपयोग किया जा सकता है।[16] स्मृति के नियम यदि श्रुति के विरुद्ध नहीं है तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा (तर्क पूर्वक) उनकी प्रामाणिकता और अर्थ जानकर उनका पालन करना चाहिए।[17]

इस प्रकार मनुस्मृति में हम चार प्रकार की विधियों का उल्लेख पाते हैं---

1- श्रुति तथा स्मृति में दिये गये वे नियम जिनके आधार पर न्यायालय में विवाद उपस्थित नहीं किया जा सकता किन्तु समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिये जिनका पालन आवश्यक था। राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह देखे कि इन नियमों के अनुसार समाज का जीवन चले। इनमें सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, वैयक्तिक, शिक्षा, विवाह, स्त्री-पुरुष संबंधी सभी प्रकार के नियम थे। इनका राज्य द्वारा निर्माण नहीं किया जाता था।

2- पारस्परिक विवाद के नियम जिन्हें 'व्यवहार' की संज्ञा दी गयी है। इन्हें अठारह भागों में विभक्त करते हुए "अठारह पद" कहा गया है।[18]

इनमें अपराध तथा अन्य अर्थ तथा काम संबंधी सभी नियमों की व्यवस्था दी गयी है। इस प्रकार "व्यवहार पद" का अर्थ है झगड़े, विवाद या मुकदमें का विषय। मनु ने "पद" का अर्थ स्थान बताया है।[19]

3- विभिन्न जातियों, जनपदों, कुलों तथा संस्थाओं के नियम जिन्हें मान्यता प्रदान करने के लिये राज्य से आग्रह किया गया है।

4- राजा के सामान्य आदेश जिन्हें "धर्म" भी कहा गया है। इनके द्वारा या तो वे नियम लागू होने चाहिए जो धर्मशास्त्रों या प्रथाओं द्वारा मान्य हैं या वे तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाये गये हों, जैसा कि मेधातिथि ने सुझाव दिया है।[20]

उपर्युक्त चार विधियों को क्रमश: धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राजशासन के अन्तर्गत समेटा जा सकता है। अर्थशास्त्र में इन्हें "व्यवहार के चार पद" बताया गया है। बताया गया है कि इनमें परस्पर विवाद होने पर बादवाला पाद अपने पूर्ववर्ती की तुलना में पहले लागू किया जाने योग्य है।[21] किन्तु जे0एस0नेगी जैसे विद्वान् यह मानते हैं कि यहां कौटिल्य किसी नियममूलक {सब्सनेन्टिव} विधि का उल्लेख नहीं करता अपितु ये विवादों को निपटाने के चार प्रकार हैं। अत: इससे राजशासन का धर्म के ऊपर प्रभुत्व सिद्ध नहीं होता अपितु इसके बाद के श्लोक में उल्लिखित धर्म, व्यवहार, लोकाचार तथा न्याय ही नियममूलक विधि के चार स्रोत कहे जा सकते हैं। इसी के आगे यह भी बताया गया है कि राजाज्ञा, लोकाचार एवं धर्मशास्त्र में विरोध होने पर धर्मशास्त्र को ही प्रमाण माना जाय। यदि प्रथम विवरण को विधि का

स्रोत माना जाय तो यह सूचित होता है कि धर्म, चरित्र तथा व्यवहार की अपेक्षा हीन है जबकि दूसरे में धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।[22]

इस प्रकार विधि निर्माण का कार्य मनु के अनुसार राज्य अथवा राजा को नहीं करना है। उसे नियमों की व्याख्या करने का अधिकार भी नहीं है। कुछ विशेष जातियों तथा संस्थाओं के नियमन के लिये जो प्रथायें थी उनके ऊपर भी राज्य का कोई नियंत्रण नहीं होता था।

न्यायव्यवस्था :-

मनु की योजना में न्याय प्रदान करने का अन्तिम उत्तरदायित्व राजा का ही है। आठवें अध्याय के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि "व्यवहार (मुकदमा) देखने का इच्छुक राजा ब्राह्मणों तथा मंत्रणा देने में कुशल मंत्रियों के साथ विनीत भाव से सभा में प्रवेश करे। वहाँ पर न्यायालय में बैठकर या खड़ा होकर दाहिने हाथ को उठाकर विनम्र वेशभूषा से युक्त होकर कार्यार्थियों के कार्यों को देखे।"[23] राजा तथा सभासदों के कार्यक्षेत्र पर टिप्पणी करते हुए मेधातिथि लिखते हैं कि 'राजा का अधिकार दण्ड देना तथा सभासदों का निर्णय देना होता है। राजा का उद्देश्य राज्य का उचित ढंग से शासन संचालन करना है जबकि सभासदों का उद्देश्य विवादास्पद मामलों का निर्णय देते हुए दूसरों का उपकार करना है। इस प्रकार दोनों में किसी प्रकार की गलतफहमी उत्पन्न होने की संभावना नहीं है।'[24] यह कार्य राजा को प्रति दिन करना पड़ता था। राजा के असमर्थ होने (अस्वस्थ या अन्य प्रशासनिक कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण) यह व्यवस्था थी कि वह विद्वान् ब्राह्मण

को इस कार्य के लिये नियुक्त कर दे। यह मुख्य न्यायाधीश होता था जिसे मेधातिथि 'प्राड्विवाक्' कहते हैं।[25] इसका उल्लेख दो अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होता है।[26] कुल्लूक के अनुसार यह न्यायालय में राजा का प्रतिनिधि होता था। इसके साथ तीन अन्य न्यायाधीश भी होते थे जिन्हें वेदज्ञ तथा सभ्य कहा गया है। चार न्यायाधीश मिलकर जिस सभा का निर्माण करते थे उसे "ब्रह्मसभा" कहा गया है।[27] यहां मनु न्याय दान का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही देते हैं। शूद्र को यह अधिकार देने को वे कदापि प्रस्तुत नहीं हैं।[28] इसी न्यायालय को अन्यत्र "संसद" तथा "आर्यसंसद" भी कहा गया है। विवाद के प्रसंग में दो स्थानों पर "कुल" का उल्लेख मिलता है।[29] मेधातिथि तथा कुल्लूक जबकि इसका अर्थ साक्षी लगाते हैं कि एक अन्य स्थल पर वे इसका अर्थ न्यायाधीश करते हैं।[30] अत: संभव है मनु के "कुल" से तात्पर्य न्यायालय से ही हो क्योंकि नारद तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों में इसका यही अर्थ मिलता है।[31] गुप्तकाल में यह एक न्यायालय ही था । बृहस्पति स्मृति में कहा गया है कि कुल न्यायालय के विरुद्ध श्रेणी न्यायालय में अपील की जाती थी तथा श्रेणी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध पूग न्यायालय में।[32] मिताक्षरा में कहा गया है कि कुल न्यायालय में निकट या दूर के संबंधी समझौता कराने का कार्य करते थे। इससे स्पष्ट है कि यह एक गैर सरकारी न्यायालय था। जब संयुक्त परिवार के किन्हीं दो व्यक्तियों में विवाद होता था तो कुलवृद्ध लोग इसका निपटारा करने का प्रथम प्रयास करते थे। इस प्रकार यह बड़े संयुक्त परिवार का न्यायालय होता था जिसमें कुलवृद्ध ही निर्णय देते थे।

मनु कुछ मामलों जैसे ऋण की वसूली आदि में व्यक्ति को स्वयं न्याय प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करते हैं। बताया गया है कि "धर्म, व्यवहार छल, आचार तथा बल द्वारा ऋण देने वाला अपना धन प्राप्त करे।"[33] मेधातिथि तथा कुल्लूक धर्म का अर्थ मित्रों संबंधियों आदि के संदेशों से समझा-बुझा कर धन वापस लेना लगाते हैं। कुल्लूक तथा गोविन्दराज व्यवहार से तात्पर्य मुकदमा चलाना अथवा चलाने की धमकी देना और मेधातिथि विष्टि अथवा जबरन काम कराना बताते हैं। "आचरित" का अर्थ कुल्लूक के अनुसार ऋण लेने वाले के स्त्री, पुरुष, पुत्र, पशु आदि की हत्या करना या उसके द्वार पर बैठना है जबकि गोविन्दराज इसका अर्थ अनशन करना बताते हैं। मेधातिथि का कहना है कि जो निर्धन हो उसे व्यवहार से ऋण दिलवाना चाहिए। ये तीनों पद्धतियां तो किसी सीमा तक उचित ठहराई जा सकती हैं किन्तु मनु द्वारा मान्य छल या बल द्वारा न्याय प्राप्त करने का अधिकार व्यक्ति को प्रदान किया जाना सभ्य या सुशासित समाज का सूचक नहीं माना जा सकता। यह एक ऐसी व्यवस्था की ओर संकेत करता है जब कि केन्द्रीय शक्ति में निर्बलता आ गयी थी तथा राजा के अधिकारों पर अतिक्रमण प्रारम्भ हो चुका था। मनु यहां तक लिखते हैं कि यदि कोई व्यक्ति इन पद्धतियों से स्वयं अपना ऋण प्राप्त करने का प्रयास करता है तो राजा को उसके ऊपर कोई मुकद्दमा नहीं चलाना चाहिए। यदि कर्जदार राजा के यहां अपील करता है तो राजा ऋण दाता के ऋण वापस दिलाने के साथ साथ ऋणी से ऋण का चौथाई भाग दण्ड के रूप में ग्रहण करे।[34] किन्तु इस प्रकार का विधान केवल आर्थिक मामलों (ऋण, निक्षेप आदि) में ही किया गया है। संभव है अन्य मामलों में भी यही

पद्धति प्रचलित रही हो।

इस प्रकार न्याय प्राप्त करनेकी दो विधियों का उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है--

1- राजकीय न्यायालय में व्यवहार द्वारा ।

2- स्वयं प्रयास द्वारा ।

मनु न्याय-व्यवस्था में राजा को सर्वेसर्वा मानने के पक्षधर नहीं हैं। यह सही है कि राजा का न्यायपालिका पर अधिकार होता था तथापि वह अकेले निर्णय नहीं दे सकता था। उसे न्यायाधीश तथा अन्य ब्राह्मणों की सहमति से ही न्याय करना होता था। ये धर्म के ज्ञाता थे तथा अपना कार्य करने के लिये स्वतंत्र होते थे।

निष्पक्ष एवं उचित न्याय पर बल-

मनुस्मृति में न्याय वितरण के संबंध में सबसे अधिक इसी बात पर बल दिया गया है कि निष्पक्ष रूप से बिना किसी भेदभाव के सबको न्याय मिलना चाहिए। न्याय प्रदान करने में राजा की तुलना यम से करते हुए कहा गया है कि "क्रोध तथा इन्द्रियों को वश में करके तथा अपने प्रिय और अप्रिय का त्याग कर यम के समान सर्वत्र समव्यवहार रखते हुए वर्त्ताव करे"।[35] जो राजा काम और क्रोध को छोड़कर धर्मपूर्वक कार्यों को देखता है प्रजा उस राजा का अनुगमन उसी प्रकार करती है जिस प्रकार नदियां समुद्र का।[36] यह भी कहा गया है कि "पिता, आचार्य, मित्र, माता, पत्नी पुत्र, पुरोहित- इनमें से भी स्वधर्म से विचलित होता है वह दण्डनीय ही है।[37] इसके विपरीत जो

अपराधी नहीं है उसे परेशान नहीं किया जाना चाहिए। दण्डनीय को दण्डित न करने तथा अदण्डनीय को दण्डित करने से राजा महान् पाप करता है तथा नरकगामी होता है। धर्मविरुद्ध दिया गया दण्ड राजा के यश तथा कीर्ति का नाश करने वाला तथा परलोक में दूसरे धर्म से प्राप्त होने वाले स्वर्ग में बाधक है, अस्तु उसका त्याग करना चाहिए।[38] इस प्रकार मनु की विचार-धारा में अपराधी का छूटना भी बड़ा भारी दोष है किन्तु उससे भी बड़ा दोष निर्दोष को दण्डित करना है।

मनु सभा अर्थात् न्यायालय का जो वर्णन प्रस्तुत करते हैं उससे भी निष्पक्ष एवं उचित रूप से न्याय दिये जाने की पुष्टि होती है। तदनुसार:

"जिस सभा में धर्म (सत्य) अधर्म (असत्य) से पीड़ित होकर रहता है अर्थात् झूठ बोलकर सत्य को छिपाया जाता है और सभासद इस शल्य को दूर नहीं करते अर्थात् सत्य का आश्रय नहीं लेते, वे ही अधर्म रूपी शल्य से पीड़ित होते हैं। या तो सभा में जाना ही नहीं चाहिए या वहां जाकर सत्य ही बोलना चाहिए। सभा में जाकर कुछ नहीं कहता हुआ मनुष्य तत्काल पाप-गामी होता है। जहां सभासदों के सामने धर्म, अधर्म से तथा सत्य, असत्य से पीड़ित होता है वहां वे सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं। नष्ट किया गया धर्म ही नष्ट करता है तथा सुरक्षित धर्म ही रक्षा करता है। अत: धर्म को (असत्य बोलकर) नष्ट नहीं करना चाहिए क्योंकि सुरक्षित धर्म ही नहीं मारता है (रक्षा करता है) अथवा "नष्ट हुआ धर्म हम लोगों को नष्ट न करे" यह जानकर धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए। अपितु असत्य बोलने वाले को दण्डित कर धर्म को सत्य भाषण द्वारा बचाना चाहिए। भगवान धर्म को

वृष कहते हैं। मेधातिथि तथा कुल्लूक "वृष" का अर्थ मनोवांछित फल देने वाला लगाते हैं। जो मनुष्य उसे नष्ट करता है उसे देवतागण "वृषल" अर्थात् धर्म को लेने या काटने वाला कहते हैं। अतः धर्म का नाश नहीं करना चाहिए। इस संसार में धर्म ही मित्र है जो मरने पर साथ जाता है और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। व्यवहार को ठीक से न देखने पर अधर्म का प्रथम चौथाई अधर्म करने वाले को, द्वितीय गवाह को, तृतीय सदस्यों (न्यायाधीशों को) तथा चतुर्थ राजा को प्राप्त होता है। जिस सभा में निन्दनीय अर्थी तथा प्रत्यर्थी दण्डित होता है वहां वही पाप का भागी होता है तथा राजा और सभासद को दोष नहीं लगता।"[39]

उपर्युक्त पंक्तियों में निष्पक्ष एवं उचित न्याय प्रदान करने की महत्ता का सुस्पष्ट ढंग से प्रतिपादन किया गया है। मनु कुछ अन्य स्थानों पर भी इसी बात का उल्लेख करते हैं। जैसे चोरी के प्रसंग में कहा गया है कि चोर को दण्ड न देने वाला राजा चोरी के पाप से स्वयं लिप्त हो जाता है।[40] व्यवहार के संबंध में कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे:

1- राजा या उसके कर्मचारियों को स्वतः कोई विवाद खड़ा नहीं करना चाहिए। दूसरों द्वारा लाये गये विवाद को दबाना नहीं चाहिए।[41] मेधा-तिथि तथा कुल्लूक के अनुसार धनादि के लोभ में पड़कर उसे समाप्त नहीं करना चाहिए।[42]

2- राजा विवाद की निष्कपट भाव से प्रेमपूर्वक जांच कर समझा बुझा कर उसे ठीक करे।

3- यदि बालक, वृद्ध, दुखी, रोगी वादीगण राजा पर कोई दोषारोपण

वृष कहते हैं। मेधातिथि तथा कुल्लूक "वृष" का अर्थ मनोवांछित फल देने वाला लगाते हैं। जो मनुष्य उसे नष्ट करता है उसे देवतागण "वृषल" अर्थात् धर्म को लेने या काटने वाला कहते हैं। अतः धर्म का नाश नहीं करना चाहिए। इस संसार में धर्म ही मित्र है जो मरने पर साथ जाता है और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। व्यवहार को ठीक से न देखने पर अधर्म का प्रथम चौथाई अधर्म करने वाले को, द्वितीय गवाह को, तृतीय सदस्यों (न्यायाधीशों को) तथा चतुर्थ राजा को प्राप्त होता है। जिस सभा में निन्दनीय अर्थी तथा प्रत्यर्थी दण्डित होता है वहां वही पाप का भागी होता है तथा राजा और सभासद को दोष नहीं लगता।"[39]

उपर्युक्त पंक्तियों में निष्पक्ष एवं उचित न्याय प्रदान करने की महत्ता का सुस्पष्ट ढंग से प्रतिपादन किया गया है। मनु कुछ अन्य स्थानों पर भी इसी बात का उल्लेख करते हैं। जैसे चोरी के प्रसंग में कहा गया है कि चोर को दण्ड न देने वाला राजा चोरी के पाप से स्वयं लिप्त हो जाता है।[40] व्यवहार के संबंध में कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे:

1- राजा या उसके कर्मचारियों को स्वतः कोई विवाद खड़ा नहीं करना चाहिए। दूसरों द्वारा लाये गये विवाद को दबाना नहीं चाहिए।[41] मेधा-तिथि तथा कुल्लूक के अनुसार धनादि के लोभ में पड़कर उसे समाप्त नहीं करना चाहिए।[42]

2- राजा विवाद की निष्कपट भाव से प्रेमपूर्वक जांच कर समझा बुझा कर उसे ठीक करे।

3- यदि बालक, वृद्ध, दुखी, रोगी वादीगण राजा पर कोई दोषारोपण

उत्तर न दे तो वह धर्मानुसार पराजित हो जाता है।[48] जो प्रतिवादी जितने धन को छिपाये या अधिक धन लेकर जितना कम बतलावे तथा जो वादी जितने धन को असत्य बोले अर्थात् कम धन देकर भी जितने धन का दावा करे वे दोनों ही न्याय का अपमान करते हैं तथा राजा को उन्हें दुगुने धन से दण्डित करना चाहिए।[49] इसी प्रकार निक्षेप (धरोहर) के विषय में कहा गया है "जो दिये हुए धरोहर को वापस नहीं करता तथा जो धरोहर को बिना दिये ही मांगता है उन दोनों को न्यायाधीश चोर के समान दण्डित करे तथा उसके बराबर अर्थ दण्ड लगाये।[50] निक्षेप हरण करने वाले मनुष्य से राजा उतना ही धन दिलावे तथा उपनिधि को हरण करने वाले मनुष्य को भी वही दण्ड दे अर्थात् धरोहर के बराबर धन दिलावे।[51] प्रथम के विषय में मेधातिथि लिखते हैं कि इसके अन्तर्गत शारीरिक यातना, अंग-भंग शामिल है जो ब्राह्मणेतर लोगों के लिये है क्योंकि ब्राह्मण तो मनु के अनुसार शरीर-दण्ड से मुक्त होता है। पुनश्च इसका विधान गम्भीर मामलों में ही किया गया है। मेधातिथि गोविन्दराज तथा कुल्लूक के अनुसार अपराध की पुनरावृत्ति होने पर यह दण्ड दिया जा सकता है। उपनिधि का अर्थ मेधातिथि गुप्त धरोहर या मैत्री भाव से दी गयी धरोहर लगाते हैं।[52]

मनु प्रतिवादी को उत्तर देने के समय डेढ़ माह निर्धारित करते हैं। यदि वह ऐसा नहीं करता तो धर्मतः पराजित माना जायेगा।[53] नारद ने[54] उत्तर के चार प्रकारों का निर्देश किया है-

1- स्वीकृति ।

2- अस्वीकृति ।

3- कारण देना ।

4- प्राङ्न्याय ।

किन्तु मनु में इनका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि यदि ऋणदाता ऋणी से ऋण वापस दिलाने के लिये राजा से प्रार्थना करता है तो जितना ऋण हो उसे राजा वापस दिला दे।[55] यहाँ परोक्ष रूप से ऋणी की स्वीकृति का संकेत मिलता है। इसी प्रकार एक स्थान पर "अपह्नव" शब्द आता है जिससे अस्वीकृति का संकेत मिलता है। कहा गया है कि यदि न्यायाधीश के ऐसा कहने पर "इस धनी का धन दे दो" ऋण देने वाला यदि मुकर जाय तो अर्थी को साक्षी या अन्यान्य प्रमाण बताना चाहिए।[56] कारण अथवा पूर्वापत्ति के कुछ उदाहरण भी मनुस्मृति में प्राप्त होते हैं। साधारण अवस्था में ऋण लेने वाले की मृत्यु हो जाने पर उसका उत्तराधिकारी ही ऋण वापस करने के लिये उत्तरदायी है किन्तु यदि वह यह सिद्ध कर दे कि ऋणी ने वह ऋण जुए या मदिरापान में खर्च कर डाला तो उसका उत्तराधिकारी देनदार नहीं होगा।[57] इसी प्रकार यह कहा गया है कि धर्मार्थ यदि कोई धन देने का वचन दे दिया गया हो किन्तु धर्मकार्य में धन की आवश्यकता न हो तो दाता धन देने से इन्कार कर सकता है तथा इसे बाद में यदि मांगने वाला बलपूर्वक धन वसूल करे तो वह चोरों के समान दण्ड का अधिकारी होगा।[58] मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार यह धर्मकार्य

यज्ञ, विवाह अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य कार्य हो सकता है। मेधातिथि लिखते हैं कि यदि इन कार्यों के लिये धन दे भी दिया जाय किन्तु कार्य न हो तो उसे वापस लिया जा सकता है। कुल्लूक इस संबंध में गौतम को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि अयोग्य व्यक्ति को धन देना ही नहीं चाहिए भले ही ऐसा वादा कर लिया गया हो। नारद का उद्धरण देते हुए मेधातिथि कहते हैं कि दाता को धन लेने वाले के घर जाकर धन लेना चाहिए। दण्ड के विषय में कुल्लूक का कथन है कि राजा को एक सुवर्ण का दण्ड लगाना चाहिए। उत्तर की प्राङ्न्याय विधि का कोई उल्लेख हम मनु में नहीं पाते।

प्रतिवादी यदि वादी या अभियोक्ता के आरोपों को इन्कार करता है तो अपने मत की पुष्टि में वादी द्वारा प्रमाण प्रस्तुत किये जाने का विधान है। प्रमाण छः प्रकार के बताये गये हैं-

1. करण-

मेधातिथि इसका अर्थ "लेख" तथा कुल्लूक पत्रादि लगाते हैं। इस प्रकार इससे तात्पर्य लिखित प्रमाण से ही है। एक स्थान पर कहा गया है कि "यदि ऋणी, ऋण देने में समर्थ न हो तथा ऋण को और आगे बनाये रखना चाहता है तो वह व्याज देकर "करण" को बदल ले।[59] गोविन्द तथा कुल्लूक के अनुसार यहां "करण" का अर्थ "लिखित इकरारनामा" है। मेधातिथि का विचार है कि इससे तात्पर्य साक्षी के समक्ष मौखिक समझौते से भी हो सकता है। वे आगे लिखते हैं कि ऋणी व्यक्ति यदि चाहे तो साक्षी लेख आदि को बदल दे, अन्य साक्षी रख ले तथा लेख पुनः तैयार करा ले। आधुनिक न्यायिक शब्दावली

में "करण" को "दस्तावेज" माना जा सकता है। इस प्रकार व्यवहार की प्रक्रिया में करण का महत्वपूर्ण स्थान है। यह भी कहा गया है कि जबरन लिखाया गया करण मान्य नहीं हो सकता।[60] बन्धक रखी गयी, बेची गयी, दी गयी, दान ली गयी आदि सभी वस्तुओं में कपटपूर्ण व्यवहार को मनु ने अमान्य घोषित किया है।[61] मेधातिथि के अनुसार यह धर्म अर्थात् शास्त्रों के विरुद्ध होगा। मनुस्मृति में यह एकमात्र उल्लेख है जहां लेखन का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।[62] नारद में भी यही श्लोक प्राप्त होता है।[63] बूलर[64] इसे व्यापारिक लेन-देन में लेखन के प्रयोग को मान्यता दिये जाने का प्रमाण मानते हैं। भारत में इसके पहले से ही लेखन कला का प्रचलन था। ऐसा लगता है कि सर्वप्रथम इसका प्रयोग दानपत्रों में किया गया तथा फिर साहित्य में। मनु के बाद के विधिग्रन्थों में व्यापारिक आदान-प्रदान में लेखन का उल्लेख करते हैं लेकिन मनु के समय में लिखित दस्तावेज का प्रचलन बहुत कम रहा होगा। संभवत: इसी कारण स्मृति में इसका उल्लेख नहीं है।

2. भोग :

धन संबंधी मामलों में स्वामित्व सिद्ध करने के लिये यह प्रमाण प्रस्तुत किया जाता था। इस संबंध में मनु लिखते हैं "अपनी सम्पत्ति दूसरे द्वारा अपने काम में लाई जाती हुई देखने पर भी स्वामी यदि दशवर्षों तक कुछ नहीं कहता तो वह स्वामी उस सम्पत्ति को पाने का अधिकारी नहीं रह जाता।[65] टीकाकार राघवानन्द इसमें भूमि को शामिल नहीं करते। मेधातिथि लिखते है कि भूमि पर अधिकार बीस वर्षों तक बना रहता है।[66] कहा गया है कि

"यदि किसी सम्पत्ति का स्वामी जड़ (पागल) या सोलह वर्ष से कम आयु का न हो तथा उसके सामने ही उसकी सम्पत्ति का उपभोग कोई दश वर्ष से कर रहा हो तो व्यवहार के अनुसार उस सम्पत्ति पर उसके स्वामी का अधिकार समाप्त हो जाता है तथा उपभोक्ता उसे प्राप्त कर लेता है।[67] सीमा-संबंधी विवाद हल करने में भी भोग का एक प्रमाण माना गया है।[68] किन्तु सम्पत्ति के ही प्रसंग में यह भी वर्णित है कि जिस किसी वस्तु का उपभोग देखा गया हो किन्तु उसकी प्राप्ति का साधन न देखा गया हो तो उसके आने के साधन (आगम) को ही मुख्य मानना चाहिए, उपभोग को नहीं- ऐसी शास्त्र मर्यादा है।[69] कुल्लूक "आगम" से तात्पर्य प्रमाण से लेते हैं, जैसे वस्तु खरीद से आई या दान में प्राप्त हुई आदि। इससे स्पष्ट है कि सामान्य परिस्थिति में स्वामित्व सिद्ध करने के लिये प्रमाण (करण) को ही आधार माना जाता था, भोग को नहीं।

3. साक्षी :

मनुस्मृति में सबसे विस्तार पूर्वक साक्षियों के विषय में ही लिखा गया है। इसका कारण यह है कि प्राय: सभी प्रकार के विवाद साक्षियों पर ही निर्भर करते हैं। साक्ष्य के विषय में बताया गया है कि प्राय: प्रत्यक्ष देखा हुआ तथा स्वयं सुना हुआ साक्षित्व ही ठीक होता है। इन विषयों में सत्य बोलने वाला साक्षी धर्म तथा अर्थ से हीन नहीं होता है।[70] कुल्लूक के अनुसार जो साक्षी असत्य बोलता है वह परलोक में धर्मच्युत होता है तथा इह लोक में अर्थदण्ड प्राप्त करने से सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठता है।[71] इस प्रकार मनु इहलोक तथा परलोक दोनों का भय दिखाकर साक्षी से केवल सत्य बोलने

का ही आग्रह करते हैं। कहा गया है कि न्यायाधीश को भी साक्षी से सत्य के महत्त्व को बताते हुए कहना चाहिए - जैसे देखा या सुना है वह सब सत्य-सत्य वर्णन करो।[72] साक्षी के सत्य भाषण पर मनुस्मृति में बहुत अधिक बल दिया गया है तथा इसे कई स्थानों पर बताया भी गया है।[73] झूठी गवाही देने के लौकिक तथा पारलौकिक लाभ-हानि के ऊपर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि " व्यक्ति की आत्मा ही उसकी साक्षी है तथा उसके अन्दर नित्य विराजमान पाप-पुण्य का द्रष्टा पुरुष सब कुछ देखता है। अत: झूठ बोलकर उस सर्वद्रष्टा को अपमानित नहीं करना चाहिए। पुनश्च सभी प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानने वाला देवता भी मनुष्य के पाप को देखते हैं। पाप-पुण्य का फल देने वाले तथा मनुष्य के कर्मों को नियंत्रित करने वाले यम भी सब के हृदय में बैठा हुआ सब देखता रहता है और यदि कोई अधर्म या असत्य भाषण द्वारा उसे असंतुष्ट नहीं करता तो ऐसे व्यक्ति को तीर्थ यात्रा की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। सत्य बोलने वाले साक्षी को संसार में अधिक यश, मिलता है जबकि झूठ बोलने वाले के सभी पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं, वह घोर अन्धकार रूपी नरक में जाता है जहां वरुण के पाश में बंध कर सौ जन्मों तक पराधीन रहता है। इस प्रकार झूठी गवाही देना महापातकों के समान बहुत बड़ा पाप बताया गया है।[74] इन सब कारणों से तथा यह समझकर कि "सत्यवाणी ब्रह्मा द्वारा पूजित है " व्यक्ति को सभी वर्णों के मामलों में सत्य साक्ष्य ही देना चाहिए। अर्थात् एक वर्ण के व्यक्ति को दूसरे वर्ण के व्यक्ति के विरुद्ध भी झूठी गवाही नहीं देनी चाहिए।[75]

मनु झूठी गवाही प्रस्तुत करने वालों को केवल पारलौकिक हानि का ही भय नहीं दिखाते अपितु उन्हें वास्तविक दण्ड दिये जाने का प्रावधान भी करते हैं। तदनुसार "लोभ के कारण दी गयी झूठी गवाही में दुगुना मध्यम साहस दण्ड, (1000पण), कामवश देने से दश गुना पूर्व साहस दण्ड, क्रोधवश देने पर तिगुना उत्तम साहस (3000 पण), अज्ञानवश देने पर दो सौ पण तथा बाल भाव (बुद्धि की चंचलता के कारण) देने पर सौ पण दण्ड लगाया जाना चाहिए। बताया गया है कि 'झूठी गवाही देने वाले तीन वर्ण के व्यक्तियों को धर्म-विद राजा दण्डित कर देश से बाहर निकाल दे तथा ब्राह्मण को केवल निर्वासित करे उसे दण्ड न दे।" ब्राह्मण के संबंध में "विवासयेत्" शब्द मिलता है। इसके अर्थ के विषय में टीकाकारों में मतभेद है। गोविन्दराज लिखते हैं कि ब्राह्मण को भी अन्य वर्णों के समान दण्डित किया जाना चाहिए तथा नग्न कर देना चाहिए। मेधातिथि के अनुसार ऐसे ब्राह्मण का घर ढहा कर उसे गृह-विहीन कर देना चाहिए। कुल्लूक के अनुसार ब्राह्मण को उसके धन के साथ निर्वासित कर देना चाहिए। वे ब्राह्मण के दण्ड की बात को अर्थवाद मानते हैं तथा अपने मत की पुष्टि में मनु द्वारा लिखित एक अन्य श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि राजा समस्त पापों को करने वाले भी ब्राह्मण का वध कभी न करे किन्तु समस्त धन के साथ अक्षत् शरीर वाले उसे राज्य से निष्कासित कर दे।[76] इस प्रकार ब्राह्मण का दण्ड मात्र निर्वासन ही था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो कोई भी झूठी गवाही देता था उसे राज्य से निर्वासित कर दिये जाने का विधान था। किन्तु यदि किसी विवाद में धर्म के

कारण वास्तविकता जानता हुआ भी कोई झूठ बोले तो वह स्वर्ग से च्युत नहीं होता तथा उसकी वाणी को दैवी वाणी ही माननी चाहिए। इसका उदाहरण देते हुए बताया गया है कि यदि झूठ बोलने से शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण की प्राण रक्षा हो तो वह झूठ सत्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। मेधातिथि तथा कुल्लूक यहां धर्म से तात्पर्य दया लगाते हैं।[77] ऐसा असत्य बोलने पर जो दोष लगता है उसके प्रायश्चित स्वरूप वाग्देवी सरस्वती का चरु से यज्ञ करने अथवा कुछ विशिष्ट मंत्रों के साथ अग्नि में घी से आहुति करने का विधान दिया गया है।[78] कुल्लूक के अनुसार जहां अपराधी को प्राणदण्ड दिया जाना अनिवार्य प्रतीत हो वहीं असत्य भाषण की अनुमति है। उल्लेखनीय है कि वशिष्ठ तथा गौतम में भी इसी प्रकार का विधान मिलता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक दुष्ट को बचाने के लिये असत्य बोला जाय। ब्राह्मण इसका अपवाद हो सकता है। समस्त हिन्दू विधि ग्रन्थ एकमात्र इसी परिस्थिति में असत्य भाषण का औचित्य प्रतिपादित करते हैं। इसे "सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है" का अपवाद माना जा सकता है। अन्यत्र सभी मामलों में व्यवस्था है कि जिस किसी भी विवाद में असत्य गवाही हो उस पर पुनर्विचार किया जाय तथा जहां दण्ड आदि दिया जा चुका है उसे समाप्त होने पर भी असमाप्त ही माना जाय अर्थात् उस पर पुनः निर्णय दिया जाय।[79]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मनु साक्ष्य के कार्य को अत्यन्त पवित्र मानते है तथा उसमें सत्य बोलने का ही आग्रह करते हैं। यह भी कहा गया है कि साक्षी स्वभावतः जो कुछ कहे न्यायाधीश उसे ही ठीक माने अन्य किसी

कारण से यदि वह निष्प्रयोजन बातें कहे तो उसे ठीक न माना जाय ।[80] कुल्लूक अन्य कारण से तात्पर्य भय दबाव, शील, संकोच आदि मानते हैं। मेधातिथि इसे दया, पुण्य प्राप्त करना, स्त्रियों का प्रभाव आदि बताते हैं। गोविन्दराज के अनुसार इसका स्वभावतः अर्थ "सत्य के अनुसार " है। साक्षियों में मतभेद होने पर बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाने का विधान है। यदि दोनों पक्ष में बराबर-बराबर साक्षी हों तो उनमें से जो गुणी साक्षी कहे उसे माना जाय और यदि गुणी भी बराबर हो तो जो उत्तम द्विज कहे उसी का प्रमाणिक मानकर निर्णय दिया जाना चाहिए।[81] गोविन्दराज द्विज से तात्पर्य ब्राह्मण से लेते हैं। मेधातिथि का भी यही मत है जबकि कुल्लूक के अनुसार इसका अर्थ क्रियानिष्ठ ब्राह्मण (क्रियावन्त) है। जहां तक साक्षियों की संख्या का प्रश्न है मनु के अनुसार सामान्य अवस्था में कम से कम तीन साक्षी प्रस्तुत किये जांय किन्तु यदि कोई कार्य घर के भीतर, वन आदि में चोर आदि द्वारा मारे जाने पर होता हो तो किसी को भी साक्षी बनाया जा सकता है।[82] ऋण आदि के लेन देन में एक व्यक्ति साक्षी नहीं बन सकता। यह भी व्यवस्था है कि यदि कोई व्यक्ति किसी की ओर से साक्षी नहीं बनाया जाता है तथापि यदि उसने किसी घटना को देखा या सुना है तो अनिबद्ध होते हुए भी वह गवाही दे सकता है। इसे "श्रुत-साक्षी" कहा गया है।

मनु न्यायालय में गवाही देने वालों के लिये भी कुछ योग्यतायें निर्धारित करते हैं। तदनुसार सामान्य अवस्था में सभी लोग साक्षी नहीं बनाये जा सकते । क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से वे जो गृहस्थ हों, पुत्रवान हों,

राज्य के मूलवासी हो तथा सभी वर्णों के ऐसे लोग जो निष्पक्ष बोलने वाले हों (आप्ता:), सब धर्मों के ज्ञाता हों तथा लोभी न हो- ही साक्षी बनाये जा सकते है।[83] इसके विपरीत ऋण आदि देने या लेने वाले से संबंध रखने वाले, सहायक, शत्रु, जिसने कभी झूठी गवाही दी हो, रोगग्रस्त, पापी, दस्यु, निषिद्ध कर्म करने वाले, तस्कर, अन्त्यज, नट-नर्तक, बेईमान आदि को साक्षित्व से वर्जित किया गया है। कुछ अन्य लोगों को भी इस श्रेणी में रखा गया है, जैसे- राजा, कारीगर, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी, वृद्ध, शिशु, विकलांग, पागल, क्षुधापीड़ित, कामी क्रोधी, चोर आदि।[84] स्त्रियों को भी गवाही देने से वर्जित किया गया है। किन्तु ये नियम सामान्य अवस्था के लिये ही है। आपत्तिकाल में तो कोई भी - स्त्री, बालक, भृत्य, बन्धु आदि साक्षी बन सकता है। साक्षी देने के संबंध में यह भी बताया गया है कि स्त्रियों की साक्षी स्त्रियां होनी चाहिए, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र, अन्त्यजों के अन्त्यज आदि। दूसरे शब्दों में यह व्यवस्था दी गयी है कि जिस वर्ग के व्यक्ति मुकदमा लड़ रहे हों वे अपने ही वर्ग के व्यक्तियों को साक्षी रूप में प्रस्तुत करें।[85]

4. शपथ:

मनु लिखते हैं कि बिना साक्षी वाले मुकदमों में परस्पर विवाद करते हुए वादी या प्रतिवादी से ठीक-ठीक सच्चाई नहीं मालुम पड़ने पर राजा शपथ द्वारा सच्चाई ज्ञात करे।[86] मेधातिथि के अनुसार शपथ से तात्पर्य दैवानुमान है जिसमें दिव्य भी शामिल है।[87] निक्षेप के संबंध में एक स्थान पर कहा गया है कि जो निक्षेप को नहीं लौटाता है तथा जो बिना दिये ही मांगता है ऐसे व्यक्तियों का निर्णय सभी उपायों से तथा वेदोक्त शपथों द्वारा किया

जाना चाहिए।[88] गोविन्दराज तथा कुल्लूक सभी उपायों से तात्पर्य साम, दाम, दण्ड, भेद आदि तथा वेदोक्त शपथ से तात्पर्य आग लेकर चलना जैसे दिव्यों से लगाते हैं। मेधातिथि के अनुसार उपायों से तात्पर्य ताडन, बन्धन आदि है। विधान किया गया है कि उक्त दोनों को ही न्यायाधीश चोर के समान दण्डित करे अथवा उसके बराबर जुर्माना लगाये।[89] मेधातिथि चोर के समान दण्डित करने का अर्थ अंग भंग करना लगाते हैं जबकि कुल्लूक का मत है कि धरोहर के मूल्यवान होने पर अंग-भंग किया जाय तथा सामान्य द्रव्य का विचार होने पर उसी के बराबर अर्थ-दण्ड दिया जाय। मनु शपथ ग्रहण करने का प्राचीन उदाहरण भी प्रस्तुत करते है। महर्षियों तथा देवताओं द्वारा संदिग्ध कार्य का निर्णय शपथ द्वारा किया गया। पूर्वकाल में महर्षियों ने चोरी के आरोप के संबंध में, इन्द्र ने अहिल्या से अनैतिक संबंध स्थापित करने के संबंध में तथा वशिष्ठ ने विश्वामित्र के सौ पुत्रों के भक्षण के संबंध में सुदास राजा के सामने शपथ लिये थे।[90] बताया गया है कि ब्राह्मण को सत्य की, क्षत्रिय को वाहन तथा शस्त्र की, वैश्य को गौ, व्यापार सुवर्ण आदि की तथा शूद्र को सब पापों की शपथ दिलानी चाहिए। कुल्लूक इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि न्यायाधीश चार वर्णों से क्रमशः इस प्रकार कहे-

<u>ब्राह्मण से-</u> यदि मैं असत्य शपथ लूं तो अब तक के सत्य बोलने से उत्पन्न सभी पुण्य नष्ट हो जाय।

<u>क्षत्रिय से-</u> असत्य शपथ लेने पर मेरे वाहन मर जाय।

<u>वैश्य से-</u> गौ, कृषि, सुवर्ण आदि नष्ट हो जाय।

शूद्र से- असत्य शपथ लेने पर सब पापों का फल लगे।

यह भी बताया गया है कि विद्वान् मनुष्य छोटे से काम में भी झूठा शपथ न ले क्योंकि इसे इहलोक तथा परलोक दोनों की हानि होती है।[91] कुल्लूक के अनुसार ऐसा व्यक्ति इस लोक में अपयश पाता है तथा परलोक में नरक का कष्ट भोगता है।

किन्तु मनु कुछ विशेष परिस्थितियों में झूठी शपथ लेने की अनुमति भी प्रदान करते हैं। जैसे कामिनि (प्रेम संबंध) में , विवाहों में, गौवों को चारा आदि देने के विषय में, होमार्थ लकड़ी लेने में, ब्राह्मण की रक्षा के लिये स्वी - कृत धन आदि के विषय में। कहा गया है कि इन कार्यों में झूठा शपथ लेने से पाप नहीं लगता। इसी प्रकार की व्यवस्था वात्स्यायन तथा गौतम आदि ने भी दी है। इन कार्यों में परिस्थितियों के महत्व के कारण मनुष्य को झूठ बोलना ही पड़ता है। नन्दन लिखते हैं कि इस प्रकार की शपथ एक कर्त्तव्य ही है।

5· दिव्य - यह शपथ का ही एक भाग है जिसका उपयोग मामलों की सच्चाई जानने के लिये किये जाने का विधान किया गया है। मेधातिथि तथा कुल्लूक का विचार है कि केवल महत्वपूर्ण मामलों में ही न्यायाधीश द्वारा दिव्यों का उपयोग किया जाना चाहिए। सामान्य मामलों में नहीं।

मनु में तीन प्रकार के दिव्यों का उल्लेख मिलता है-

(अ) अग्नि दिव्य:- इसके अन्तर्गत तौल में पचास पल (ढाई सेर) लोहे के आठ अंगुल लम्बे गोले को अग्नि के समान लाल तपाकर पीपल के सात पत्तों को

हाथों पर रखकर उन्हें सफेद सूत से बांध कर फिर सात पत्तों को रखकर, उनके ऊपर तप्त लोहे को रखकर शूद्र आदि से सात पग चलने को कहा जाता था। यदि लोहा साक्षी को नहीं जलाता था तो उसका शपथ सच्चा माना जाता था।

(आ) जल दिव्य:- जोंक रहित जल में शपथ लेने वाले व्यक्ति को डूबोकर लगभग डेढ़ सौ हाथ दूर फेंके गये बाण को लेकर आने तक डूबे रहने को कहा जाता था। यदि जल उसे ऊपर नहीं फेंकता था तो वह सच्चा साक्षी था।

(इ) आपत्ति दिव्य:- शपथ करने वाला व्यक्ति अपने पुत्र तथा पत्नी का सिर बारी-बारी से स्पर्श करता था । इसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि शपथ में न केवल वह अपितु उसका पूरा परिवार भी शामिल है।[92] इस प्रकार का शपथ लेने पर एक सप्ताह के भीतर उसके घर या परिवार पर यदि कोई आपत्ति न आये तो उसकी गवाही सच्ची मानी जाने योग्य थी। मेधातिथि तथा कुल्लूक के अनुसार परिवार पर आपत्ति से तात्पर्य पत्नी, पुत्र आदि की मृत्यु से है।[93]

मनु दिव्य के संबंध में वत्स ऋषि का एक प्राचीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार उसके सौतेले भाई ने उसे शूद्र की सन्तान कहकर अपमानित किया। इस पर उसने अग्नि दिव्य का अनुसरण किया। "उसके एक रोम को भी, संसार के शुभाशुभ जानने में गुप्तचर रूपी अग्नि ने, सत्य के कारण नहीं जलाया था।[94] याज्ञवल्क्य ने भी कई प्रकार के दिव्यों का उल्लेख किया है।[95] शूद्रक कृत मृछकटिक में भी चार प्रकार की दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख मिलता है- विष, जल, तुला तथा अग्नि। चारुदत्त को इन चारों परीक्षाओं के प्रयोग के लिये

प्रस्तुत दिखाया गया है।[96] सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी समाज में इनके प्रचलित होने का उल्लेख किया है। उसके अनुसार अपराधियों के अपराध की सत्यता परखने के लिये चार प्रकार की कठिन "दिव्य" परीक्षायें ली जाती थी- जल द्वारा, अग्नि द्वारा, तुला द्वारा तथा विष द्वारा। बाण ने कादम्बरी में श्लेष का आश्रय लेकर प्रच्छन्न रूप से इन चारों दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख किया है।[98] प्राचीन एवं मध्य युग में भारत तथा यूरोप में लोगों का विश्वास था कि दैवी शक्ति निरपराधी मनुष्य को उसके निर्दोषत्व स्थापित करने में अवश्य सहायता देती है। इसी मूलभूत अवधारणा के फलस्वरूप समाज में दिव्यों का प्रचलन हुआ। आधुनिक युग में यह बात यद्यपि अटपटी सी लगती है तथापि इस समय भी न्यायालयों में वादी-प्रतिवादी के असहमत होने पर जो विशिष्ट प्रकार की शपथ देकर न्याय दिया जाता है वह दिव्य का ही एक प्रकार है।[99]

6• अनुमान:- यह सच्चाई ज्ञात करने का अन्तिम प्रमाण है। मनु इस विषय में लिखते है " जिस प्रकार शिकारी मृग के रक्तचाप (से चिन्हित मार्ग) से उसके रहने का स्थान जान लेता है उसी प्रकार राजा को अनुमान के तत्व से धर्म का निर्णय करना चाहिए।[100] अनुमान प्रयोग के दो संदर्भ मनुस्मृति में मिलते हैं-

1- स्त्री संग्रहण के संबंध में।

2- चोरी के संबंध में।

प्रथम के विषय में बताया गया है कि जो व्यक्ति पहले परपत्नी संभोग

का दोषी रह चुका हो यदि वह एकान्त में परपत्नी के साथ बातचीत करता है, उसके साथ एक चारपाई पर बैठता है, उसके आभूषण वस्त्रादि को स्पर्श करता है- उसके साथ हंसी करता है, उसे माला, सुगंधित द्रव्य, केश प्रसाधन की वस्तुएं भेंट में देता है तो अनुमान के आधार पर उसे व्यभिचार का दोषी माना जायेगा।[101] इसी प्रकार यदि कोई चोरी के माल तथा उपकरण के साथ पकड़ा जाय तो उसे बिना विचारे ही दण्ड दिया जाय।[102]

न्यायदान के संबंध में अन्तिम बात यह बताई गयी है कि यदि किसी भी प्रमाण से न्याय करने की संभावना न हो तो धर्मज्ञ राजा सबका हित देख कर निर्णय दे दे।[103] यद्यपि यह बात सीमा विवाद के प्रसंग में कही गयी है तथापि अन्य मामलों में भी यही स्थिति रही होगी। यहां मनु आधुनिक काल के न्यायाधीशों के समान राजा को न्याय के क्षेत्र में विवेकाधिकार देते हुए जान पड़ते हैं।

इस प्रकार मनु का विचार है कि राजा अथवा न्यायाधीश को सभी बातों पर सम्यक् विचार करने के उपरान्त ही निर्णय देना चाहिए। कहा गया है कि "अर्थ तथा अनर्थ और धर्म तथा अधर्म को जानकर सभी कार्यार्थियों के वादों को वर्णक्रम से राजा देखे।[104] मेधातिथि लिखते हैं कि राजा को यह ध्यान में रखना चाहिए कि उचित न्याय से लाभ तथा अनुचित न्याय से हानि प्राप्त होती है। कुल्लूक के अनुसार राजा को उचित-अनुचित का ज्ञान प्राप्त कर केवल न्याय अन्याय को ही ध्यान रखना चाहिए। गोविन्द-राज के अनुसार राजा यह देखे कि किस कार्य से प्रजा प्रसन्न होती है तथा किससे

दूषित होती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मनु लिखते हैं कि "व्यवहार देखने के लिये तैयार राजा तत्व को, अर्थ को, अपने को, साक्षियों को, देशकाल के अनुसार स्वरूप को देखे।[105] कुल्लूक के अनुसार तत्व से तात्पर्य छल-कपट छोड़कर न्याय देना है। मेधातिथि, कुल्लूक तथा गोविन्दराज अर्थ से तात्पर्य मुकदमें की वस्तु अर्थात् यह स्वीकार्य है या नहीं बताते है। राजा द्वारा अपने को देखने का अर्थ कुल्लूक के अनुसार यह है कि राजा सदा ध्यान रखे कि अन्याय करने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी। देशकाल से तात्पर्य यह है कि किस स्थान तथा समय में क्या उचित है अथवा अपराध कब और कहां किया गया है। रूप का अर्थ मामले की गुरूता और लघुता का विचार है।

व्यक्ति को मुकदमें में कैसे पराजित घोषित किया जाय, इस पर भी मनुस्मृति में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।[106] तदनुसार जो अयोग्य स्थान का उल्लेख करे (जहां उस घटना या दूसरे पक्ष का होना संभव न हो), ऐसे साक्षी को प्रस्तुत करे जिसका घटना से संबंध न रहा हो, जो पहले कोई बात कहे, बाद में उससे मुकर जाय, जिसके पूर्व तथा बाद के कथनों में संगति न हो, जो अपनी बात कहकर उसे प्रमाणित न करे, जो विवाद के विषय में उचित रीति से पूछे जाने पर उसकी चिन्ता न करे, जो गवाहों के साथ गुप्त बातें करे, जो प्रश्न पुछे जाने पर उत्तर न दे, जो बोलने को कहे जाने पर न बोले, बिना समझे बात कहे, जो आदेश मिलने पर गवाहों को पेश न करे- इन कारणों से न्यायाधीश उस व्यक्ति के विरूद्ध निर्णय दे। मनु ने गलत निर्णय पर पुनर्विचार की भी व्यवस्था दी है।[107] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उचित न्याय मिले तथा न्याय निष्पन्न हो - इसकी पक्की व्यवस्था मनु करते हैं।

भारतीय विचारधारा में न्याय करना तथा अधर्म या अन्याय करने वालों को दण्ड देना राज्य का वास्तविक कार्य माना गया है। वस्तुत: इसी पर राज्य का अस्तित्व निर्भर करता है। किन्तु इस कार्य के लिये किसी प्रकार का शुल्क (कोर्टफीस) लिये जाने का विधान मनुस्मृति सहित किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता। केवल विभिन्न अपराधों के लिये दण्ड की ही व्यवस्था है।

दण्ड

मनु ने न्याय प्रक्रिया के अन्तर्गत ही विविध प्रकार के दण्डों की कल्पना की है। दण्ड देना राजा का परम कर्तव्य है क्योंकि इसके बिना "चोरों, पापबुद्धियों तथा गुप्त रूप से विचरण करने वालों का पाप रोका नहीं जा सकता।[10] भारुचि ने इन्हें "जनपद का कण्टक" कहा है।[109]

मनुस्मृति में हम चार प्रकार के दण्डों का उल्लेख पाते हैं-[110]

वाग्दण्ड- राजा गुणियों को प्रथम बार अपराध करने पर यह दण्ड दे। इससे तात्पर्य हल्के एवं उदार ढंग को अपराध पुन: न करने के लिये प्रबोधित करना है।

धिग्दण्ड- इसमें अपराधी को दुष्कर्म के लिये धिक्कारा जाता था।

धनदण्ड- इससे तात्पर्य आर्थिक जुर्माने से है।

वध-दण्ड- मेधातिथि तथा कुल्लूक इससे तात्पर्य मृत्युदण्ड से न लेकर शारीरिक ताड़ना, जैसे बेंत, कोड़े आदि मारना अथवा अंग-भंग करना लगाते हैं। यह अपराध की गुरुता या लघुता को ध्यान में रखकर दिया जाता था।

बताया गया है कि यदि वध दण्ड के द्वारा भी अपराधी पर नियंत्रण न हो सके तो चारों दण्डों का प्रयोग एक साथ करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम दो दण्डों के प्रयोग के पूर्व अपराधी को कठोर वचन या भर्त्सना द्वारा समझाने का प्रयास किया जाता था। धरोहर के संबंध में अन्य साधनों को अपनाने से पहले तथा रोगी, वृद्ध, गर्भिणी, बालक तथा आपन्ति में फंसे हुए व्यक्ति द्वारा राजमार्ग गन्दा कर दिये जाने पर इस प्रकार के दण्डों का प्रावधान किया गया है।[11]

धनदण्ड तथा वधदण्ड के विषय में मनु विस्तार पूर्वक लिखते हैं। सर्वप्रथम दण्ड के दश स्थान बताये गये हैं।[112] लिंग, पेट, जीभ, हाथ, पैर, आँख, कान, नाक तथा धन और शरीर। कुल्लूक के अनुसार प्रत्येक स्थान पर दण्ड देते समय अपराध की प्रकृति-गुरु या लघु- पर विचार करना चाहिए। मेधातिथि के अनुसार शरीर-दण्ड से तात्पर्य मृत्यु-दण्ड से है। किन्तु ये दण्ड केवल ब्राह्मणेतर वर्णों- क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र- को ही दिये जाते थे। जहां तक ब्राह्मण का प्रश्न है उसे शरीर-क्षति नहीं पहुंचायी जा सकती थी अपितु उसका एक मात्र दण्ड निर्वासन ही था। इस प्रकार देश निकाला करना भी दण्ड का एक प्रकार था। शारीरिक दण्ड के विषय में एक स्थान पर बताया गया है कि "स्त्री, बालक, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्र तथा रोगी को पेड़ों की जड़ या बांस से मारकर अथवा रस्सी से बांधकर दण्ड दिया जाय।"[113] इसके अतिरिक्त चोरी के प्रसंग में "निरोध" तथा "बन्धन" का भी विधान मिलता है।[114] मेधातिथि निरोध का अर्थ राजदुर्ग तथा कारागार में बंद करना तथा बन्धन का अर्थ पैरों में रस्सी आदि की बेड़ी लगाकर उसकी स्वतन्त्रता को रोकना लगाते हैं। कुल्लूक के अनुसार

इससे तात्पर्य कारागार में बन्द करना तथा हथकड़ी, बेड़ी आदि डालना है। इस संबंध में यह भी कहा गया है कि सब प्रकार के बन्धनगृह सड़क पर बनवाये जाय ताकि लोग दूषित, विकृत तथा दुर्बल अपराधी बन्दियों को देख सके।[115] इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि मनु के समय तक कारागार स्थापित हो चुके थे बन्दियों को खुले में रखने के पीछे यह भावना रही होगी कि लोग उनके कष्टो को देखकर अपराध करने की प्रवृत्ति का त्याग कर सके। किन्तु मनुस्मृति में कारागार का उल्लेख केवल दो प्रसंगों में मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है कि "ग्राम, देश, संघ आदि के जो लोग उनके नियम भंग करे उन्हें निगृहीत कर अर्थदण्ड दिया जाय" तथा दूसरे स्थान पर कहा गया है कि "संरक्षित ब्राह्मणी के साथ संभोग करने पर वैश्य को एक वर्ष तक निरुद्ध करने के बाद सर्व-स्व हरण कर दण्ड दिया जाय।"[116] टीकाकार नन्दन ने प्रथम प्रसंग में निरोध का अर्थ स्पष्टत: कारागार में डालना बताया है। इन अल्प उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि मनुस्मृति में कारागार में बन्द करने का उल्लेख प्राय: नहीं हुआ है।

दण्ड का आधार-

मनुस्मृति में दो स्थानों पर दण्ड देने के आधार का भी विवेचन किया गया है। राजधर्म के प्रारंभ में वर्णन मिलता है कि "देश, काल, शक्ति, विद्या का ठीक-ठीक विचार कर राजा अन्याय करने वाले व्यक्तियों को उचित दण्ड दे।"[117] इसी बात का उल्लेख एक अन्य स्थान पर भी मिलता है जहां कहा गया है कि राजा "अनुबन्ध, देश, काल, सार तथा अपराध पर वास्तविक विचार कर दण्डनीय व्यक्ति को दण्डित करे।"[118] मेधातिथि अनुबन्ध का अर्थ

अपराधी की प्रवृत्ति अथवा हेतु अर्थात् स्वेच्छया या दूसरे के उकसाने पर, असावधानी वश या योजनाबद्ध रूप से, परिवार अति या किसी धर्म कार्य के लिये, लगाते हैं। देश तथा काल से तात्पर्य अपराध करने का स्थान जैसे नगर या वन तथा समय जैसे दिन अथवा रात है।[119] सार का अर्थ कुल्लूक के अनुसार अपराधी की शारीरिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सामर्थ्य तथा अपराध से तात्पर्य उसकी गुरुता या लघुता है। "विद्या" का अर्थ कुल्लूक के अनुसार यह है कि जिस अपराध में जो दण्ड उचित है वही दिया जाय।

दण्ड प्रदान करते समय सबसे पहले जिस बात पर विचार करने को कहा गया है वह यह कि अपराधी का अपराध करने के पीछे उद्देश्य या आशय क्या है ? एक स्थान पर वर्णित है कि आत्म-रक्षार्थ, सभी ब्राह्मणों की रक्षा या धर्मबाधा रोकने के लिये यदि शस्त्र ग्रहण कर कोई किसी की हत्या कर दे तो वह दोषी नहीं माना जायेगा।[120] इसी प्रकार यदि गुरु, बालक, वृद्ध या बहुश्रुत ब्राह्मण भी अततायी होकर आता हो तो उसे बिना बताये ही तत्काल मारना चाहिए।[121] आगे बताया गया है कि सबके सामने या एकान्त में आततायी को मारने में दोष नहीं होता है क्योंकि क्रोध ही क्रोध का नाश करता है अर्थात् क्रोध ही अपराधी है और क्रोध ही मारने वाला है।[122] यदि कोई भय दिखाकर किसी का घर बगीचा या तालाब, खेत आदि ले लेता है तो वह पाँच सौ पण से दण्डनीय है किन्तु यदि उसने भूल से ऐसा कर लिया हो तो मात्र दो सौ पण दण्ड होगा।[123] यदि पूरी सावधानी रखने के बावजूद भी कोई रक्षा करने में असमर्थ हो गया हो और इस कारण किसी दूसरे की हानि हो जाय तो उसे दण्ड नहीं मिलेगा। जैसे, यदि चोर के आने पर कोई चरवाहा चिल्लाये

फिर भी चोर पशु हरण कर ले तथा यदि कोई भेड़िया अचानक आक्रमण कर पशुओं को खा जाय तो चरवाहा दण्डनीय नहीं माना जायेगा।[124] इसी प्रकार वाहन चालक के पूरी सावधानी रखने तथा लोगों को आगाह करने के बावजूद कोई दुर्घटना हो जाय तो चालक दोषी नहीं है।[124]

दण्ड देते समय अभियुक्त की परिस्थिति पर विचार करने का भी आग्रह किया गया है। मार्ग में जाता हुआ पथिक यदि भूख मिटाने के लिये खेत से दो गन्ने या मूली तोड़े अथवा दिन भर भूखे रहने के बाद कोई एक दिन का खाना चोरी करके प्राप्त कर ले और न्यायाधीश द्वारा पूछे जाने पर सही-सही बता दे तो वह दण्डनीय नहीं है। इसी प्रकार होमाग्नि की लकड़ी, गायों के लिये चारा तथा बिना बाड़ वाले स्थान से, फल-फूल ले लेना भी चोरी नहीं है।[125] यदि स्वामी की लापरवाही के कारण किसी के द्वारा उसकी हानि हो जाय, जैसे खेत या खलिहान में बाड़ न लगाने पर यदि किसी के पशु वहां नुकसान कर दें तो स्वामी की ही गलती मानी जायेगी। किन्तु यदि अभियुक्त की लापरवाही वश हानि हो जाय जैसे भेड़िये के आक्रमण करने पर चरवाहा यदि बचाव में न दौड़े या गुहार न लगाये तो वह दण्डनीय है।[126]

मनु हेतु ( ) को भी दण्ड देने का एक आधार मानते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण झूठी गवाही के प्रसंग में प्राप्त होता है जहां विभिन्न प्रेरणाओं से झूठी गवाही देने वाले के विरूद्ध विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान प्रस्तुत किया गया है।[127] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलों पर भी हेतु के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। जैसे सम्पत्ति के मद में यदि ब्राह्मण लोभवश यज्ञोपवीत संस्कार युक्त द्विज से उसकी इच्छा के विरूद्ध दास-कर्म करवाता

है तो उसके लिये छः सौ पण दण्ड विहित है।[128] इसी प्रकार नीच जाति का व्यक्ति यदि लोभवश अपने से ऊंची जाति वालों की वृत्ति को ग्रहण कर जीविका करता है तो वह दण्डनीय है।[129] यह भी बताया गया है कि यदि कोई स्त्री अपने पिता के बान्धवों के अधिक धनी होने या अपने सौंदर्य के अभिमानवश पर-पुरुष के साथ संबंध स्थापित कर अपने पति का अपमान करे तो उसे दण्ड दिया जाना चाहिए।[130]

मनु अपराधी की स्थिति के अनुसार भी, दण्ड निर्धारित करते हैं। उदाहरणार्थ किसी अपराध में राजा सामान्य व्यक्ति की तुलना में हजार गुना अधिक दण्ड के योग्य माना गया है।[131] इसी प्रकार यदि कोई स्त्री या कन्या किसी दूसरीकन्या का कौमार्य नष्ट करे तो कन्या की अपेक्षा स्त्री को अधिक दण्ड दिया जायेगा।[132] चोरी करने वाला यदि स्वामी का संबंधी न हो तो अधिक और यदि संबंधी हो तो कम दण्ड का भागी होगा।[133] जो व्यक्ति बार-बार अपराध करता है उसके लिये अधिक दण्ड का विधान किया गया है।[13] परन्तु यदि कोई अपराधी अपने किये पर पश्चाताप कर प्रायश्चित करता है तो दण्ड कम किये जाने का विधान मिलता है। जैसे जल संसाधनों को नष्ट करने की सजा मृत्यु दण्ड बताई गयी है किन्तु यदि अपराधी उनकी मरम्मत करा दे तो मृत्यु दण्ड के स्थान पर उत्तम साहस का दण्ड "1000 पण" ही विहित किया गया है।[135] इसी प्रकार महापातकियों के लिये जो दण्ड प्रस्तुत किये गये हैं उनके द्वारा प्रायश्चित कर लिये जाने पर उन्हें घटा देने का आग्रह है।[136] मनुष्यों तथा पशुओं का गलत इलाज करने वाले चिकित्सकों के लिये क्रमशः मध्यम तथा उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है।[137]

वर्णों के अनुसार दण्ड:

मनु विभिन्न वर्णों के लिये अलग-अलग दण्ड का विधान करते हैं। ब्राह्मण व्यवस्था का पोषक होने के कारण वे ब्राह्मणों को मृत्यु-दण्ड या शारीरिक यातना दिये जाने का निषेध करते हैं तथा उनका एक मात्र दण्ड देश से उसकी सम्पत्ति छीने बिना निष्कासित करना बताते हैं।[138] किन्तु दूसरे वर्णों को यह विशेषाधिकार नहीं दिया गया है। दुर्वचन कहने, मारपीट करने, चोरी तथा स्त्री-संग्रहण के अपराध में भी वर्णानुसार दण्ड की व्यवस्था है। केवल चोरी के अपराध में ही ब्राह्मण को अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक दण्ड दिये जाने का विधान किया गया है क्योंकि इस विषय में उसका शास्त्र ज्ञान सबसे अधिक है। किन्तु दूसरे अपराधों में अन्य वर्णों के लिये उत्तरोत्तर अधिक दण्ड दिये जाने की बात कही गयी है। इसमें भी शूद्र को सर्वाधिक दण्ड दिये जाने का विधान है।[139] दण्ड देते समय अपराध की गुरुता या लघुता पर विचार करना भी आवश्यक बताया गया है। कहा गया है कि मनुष्यों तथा पशुओं को दुखित करने के लिये मारने पर उन्हें जैसी -जैसी पीड़ा हो उसके अनुसार ही दण्ड से पीड़ा पहुँचाने वाले व्यक्ति को दण्डित करना चाहिए।[140] अंग के कटने, टूटने, घाव होने या रक्त बहने पर रोगी के ठीक होने तक जो व्यय हो उसे अपराधी से दिलाना चाहिए। यदि वह नहीं देता है तो उक्त व्यय को तथा पीड़ा पहुंचाने पर विहित शास्त्रोक्त दण्ड को भी दिलाना चाहिए। जो मनुष्य किसी की वस्तु को जानबूझ कर अथवा अज्ञानता वश नष्ट करे तो वह नष्ट हुई वस्तु का वास्तविक मूल्य उसके स्वामी को तथा उतना ही मूल्य राजा को दण्ड स्वरूप दे। वस्तु की उपयोगिता के अनुसार भी दण्ड का विधान

मिलता है। वृक्ष, फल, फूल, पत्ता, लकड़ी आदि का जैसे उपयोग हो तदनुसार ही दण्ड दिया जायेगा।[4] विभिन्न प्रकार की चोरियों में भी वस्तु के अनुसार दण्ड निर्धारित किया गया है। तदनुसार--

1- कुएं से रस्सी या घड़ा चुराने अथवा प्याऊ तोड़ने पर एक मासे सुवर्ण दण्ड देने के साथ-साथ अपराधी को चुराई गयी वस्तु पुन: लाना या बनवाना पड़ता था।

2- दस कुम्भ से अधिक अन्न चुराने वाले को वध दण्ड दिया जाता था। इससे कम पर धान्य के ग्यारह गुने धान्य से चोर को दण्डित करने तथा चुराये गये धान्य के भाग को स्वामी को वापस दिलाने का विधान है।

3- सोना, चाँदी आदि तथा उत्तम वस्त्र, सौ पल से अधिक चुराने पर वध दण्ड का विधान है। पचास से सौ पल तक की चोरी पर अपराधी का हाथ काटने तथा इससे कम की चोरी पर चोरित वस्तु का ग्यारह गुना दण्ड देय था।

4- बड़े पशु के तलवार आदि शस्त्रों के और औषधियों को चुराने पर राजा समय कार्य को देखकर चोर के लिये दण्ड निश्चित करे।

5- ब्राह्मण की गाय चुराने, बन्ध्या गाय को लादने के लिये नाथने तथा यज्ञार्थ लाये गये बकरा आदि को चुराने पर राजा अपराधी का आधा पैर तत्काल कटवा ले।

6- सूत, कपास, बीज, गोबर, गुड़, दही, दूध, नमक, मछली, पक्षी, तेल, घी, मांस, मधु तथा इसी प्रकार के दूसरे पदार्थ चुराने पर दुगुना दण्ड चोर से लिया जाता था।

7· फूल, हरा धान, बिना घेरे हुए गुल्म बेलि, वृक्ष, बिना साफ किये गये धा आदि चुराने वाले पर पाँच कृष्णल दण्ड लगाया जाता था।

8- साफ किये हुए धान, शाक, मूल, फल को चौर्य पदार्थ के स्वामी के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं रहने पर चोरी करने वाले व्यक्ति पर सौ पण चौर्य वस्तु के स्वामी के साथ किसी प्रकार का संबंध रहने पर चोरी करने वाले व्यक्ति पर पचास पण का दण्ड देय था।[142]

मनु यह व्यवस्था करते हैं कि दण्ड, अपराधी के साथ-साथ उसे प्रोत्स देने वाले, सहायता करने वाले अथवा तज्जनित लाभों को लेने वाले को भी प्रदान किया जाय। बताया गया है कि जो मनुष्य कपट से दूसरे के धन का अपहरण करे उसे सहायकों सहित विविध प्रकार के बधों से ‌(जैसे अंग-भंग, बंधन, कोड़े मारना आदि) दण्डित किया जाय।[143] चोरों को अग्नि, अन्न, शस्त्र तथा अवसर देने वालों को भी चोरों के समान ही दण्ड मिलना चाहिए।[144] चोर से दक्षिणा लेने वाले ब्राह्मण को भी दण्ड का विधान मिलता है।[145] चोर के सहायक राज-पुरुषों को चोरों के ही समान दण्ड मिलना चाहिए।[146] इसी प्रकार चोरों को शरण देने वालों के लिये भी दण्ड की व्यवस्था की गयी है।[14] बताया गया है कि "चौरादि द्वारा गांव लूटे जाने, पुल या बांध टूटने, जिससे तात्पर्य मेधातिथि खेत में उत्पन्न अन्न नष्ट होना तथा जीविका नाश होना बताते हैं, और मार्ग में चौरादि दिखाई देने पर जो यथाशक्ति दौड़ कर रक्षा न करे उन्हें उनके सामानों सहित निर्वासित कर दिया जाय।"[148]

दण्ड का उद्देश्य-

मनु में वर्णित समस्त दण्डविधान का अवलोकन करने के पश्चात् हमें इसके पीछे तीन उद्देश्य दिखाई देते हैं--

1. प्रतिशोधात्मक ।
2. निवृत्तात्मक ।
3- सुधारात्मक ।

प्रथम के अन्तर्गत अपराधी व्यक्ति द्वारा की गयी हानि के अनुपात में ही हानि करने की बात कही गयी है। जैसे चोर के विषय में वर्णित है कि वह जिस जिस अंग से जिस प्रकार मनुष्यों में कुचेष्टा करे राजा उसका वही-वही अंग प्रत्यादेश के लिये कटवा ले।[149] मेधातिथि प्रत्यादेश का अर्थ दूसरों को अपराध करने से रोकने के लिये (प्रतिरूप-फल-दर्शनाय) लगाते हैं। कुल्लूक तथा गोविन्दराज के अनुसार इससे तात्पर्य भविष्य में पुनः उसे ऐसा करने से रोकना है (प्रसंग-निवारणाय)। मेधातिथि आगे लिखते हैं कि चोर यदि अपने पैरों के बल से तेजी से भाग जाता है और कोई उसे पकड़ नहीं सकता तो उसके पैर काट देने चाहिए। इसी प्रकार यदि वह जेब-कतरी करता है तो हाथ काट लिया जाना चाहिए। जो चोर रात में सेंधमारी करे राजा उसके हाथ काटकर पैनी शूली पर चढाये। जो गांठ काट कर चोरी करते हैं उनका पहली बार अंगूठा या तर्जनी अंगुली कटवा दे, दूसरी बार हाथ-पाव कटवा दे तथा तीसरी बार उसे बध दण्ड दे।[150] इसी प्रकार कहा गया है कि "शूद्र, जिस किसी अंग से द्विज को ताड़ित करे राजा उसके उसी अंग को कटवा डाले-- यह मनु का आदेश है।"[151]

इसका उदाहरण देते हुए बताया गया है कि हाथ उठाकर ब्राह्मण को मारने वाले का हाथ, पैर से मारने वाले का पैर कटवा लिया जाय। ब्राह्मण के बराबर बैठने वाले शूद्र की कमर को तप्त लोहे से दगवा कर निकाल दे या उसका नितम्ब कटवा ले। ब्राह्मण पर थूकने वाले का ओठ, मूत्र त्याग करने वाले का लिंग तथा दूषित वायु छोड़ने वाले की गुदा कटवा लिया जाय।[152] इसमें संदेह है कि कभी इन आदेशों को व्यवहार में लाया गया हो । संभवत: ये ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता के अतिवादी विचारधारा को सूचित करते हैंनकि व्यवहारिक स्थिति का।[153]

दण्ड का निरोधात्मक अथवा निवृत्तात्मक स्वरूप वहां दिखाई देता हैजहां कारावास या देश से निष्कासित किये जाने का वर्णन है।[154] बताया गया है कि बन्धनगृह सड़क पर बनवाये जाय जिससे लोग बन्दियों की दुर्दशा को देख सके। इसके तथा देश से निर्वासित किये जाने के पीछे यही भाव निहित है कि लोग इस प्रकार के अपराधों को नहीं करेंगे। मनु की दण्ड-व्यवस्था में यही मुख्य तत्व प्रतीत होता है क्योंकि जहां चोरों आदि के अंग-भंग या बध से दण्डित करने का प्रश्न है वहां भी इसका उद्देश्य "प्रत्यादेशाय" अर्थात् दूसरों को चेतावनी देने के लिये ही बताया गया है। जहां प्रकट्या गुप्त वंचकों, रिश्वतखोरों, ठग, जुआरी, अच्छी-अच्छी बातें बनाकर धन ऐंठने वाले, उत्तम वेष से पाप छिपाकर धन लेने वाले, हस्तरेखा देखने वाले, अशिक्षित महावत एवं शिक्षक, शिल्पी की जीविका वाले , वेश्या आदि को दण्डित करने की बात कही गयी है[155] वहां भी दण्ड निवृतात्मक ही है इसका उद्देश्य यही

है कि दूसरे लोग इस कार्य से विरत किये जा सके।

दण्ड का सुधारात्मक स्वरूप हमें एकाध स्थानों पर दिखाई पड़ता है। एक स्थल पर वर्णित है कि "पापी पुरुष राजा द्वारा दण्डित किये जाने पर साधु तथा पुण्यात्माओं के समान निष्पाप होकर स्वर्ग को जाते हैं।[156] चोर के संबंध में कहा गया है कि वह "कन्धे पर मूसल या खैर की लाठी या दोनों ओर तेज धारवाली बर्छी लिये हुए राजा के पास जाय तथा यह कहे- "मैने चोरी किया है, मुझे दण्डित कीजिए।" राजा द्वारा मारे जाने पर अथवा छोड़ दिये जाने पर भी वह चोर चोरी के पाप से छूट जाता है। मेधातिथि यहां मारने से तात्पर्य मृत्यु दण्ड लगाते हैं तथा लिखते हैं कि यदि राजा उसे मृत्युदण्ड न दे तो अर्थ-दण्ड देना चाहिए। इस प्रकार यहां दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति को उसके पापों से छुटकारा दिलाना है ताकि उसका पारलौकिक जीवन सुखमय बन सके और वह स्वर्ग की प्राप्ति कर सके।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. मनु0, 2,6 वेदोऽखिलो धर्म मूलं स्मृतिशीले चतद्विदाम् ।
   आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।
   वही, 2.12, वेद स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन: ।
   एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

2· मनु0, 2·10, श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।।

3· वही, 1·108, आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।

तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ।।

4· वही, 12·106

5· वही, 8·4-8

6· वही, 8·41

7· वही, 8·3

8· मेधातिथि, वही, :कुल्लूक, वही,

गोविन्दराज ,वही

9· मनु0, 8·49 धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।

प्रयुक्तं साधयेदर्थं पंचमेन बलेन च ।।

10· नारद·1·10-11, अर्थ0 3·1,39-40,2·72

अग्निपुराण 235,3·5

11· मनु0, 7·203, प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ।।

12· मेधातिथि, वही: यत्प्रकारावस्थास्तेषामुपचिताः पूर्वं प्रवृत्ताः

ब्रह्मदेयामरवृत्तिदेवस्वव्यापारादयस्तान-नुजानीयात्प्रमाणानि

कुर्यादिवं ह्यस्मिंस्तेषामनुरागो भवति।

13· कुल्लूक, वही।

गोविन्दराज, वही।

14· मेधा0, 7·13

15· मनु0, 10·55-56

16· वही, 2·14-15

17· वही, 12·105-6

18· वही, 8·3

19· वही, 8·8

20· मेधातिथि, वही, 7·13 पर टीका

21· अर्थशास्त्र,3·1, धर्मश्चव्यवहारश्च चरित्रं राजशासनं ।

विवादार्थश्चतुष्पाद: पश्चिम: पूर्ववाधक: ।।

22· नेगी, जे0एस0: सम इन्डोलाजिकल स्टडीज, पृष्ठ 30

23· मनु0, 8·1-2

24· मेधा0, 8·2

25· मनु0, 8·9 अष्टादशपदाभिन्नं प्राड्विवाकेतिसंज्ञितं·······।

26· वही, 8·9; 9·234

27· वही, 8·1,3; 9·11

28· वही, 8·20-21

29· वही 194·201

30· मनु0, 8·169

31· नारद,1·7,

याज्ञवल्क्य 2·29 नृपेणाधिकृतापूगा: श्रेणयोऽथ कुलानिच।

पूर्व गुरुज्ञेयं व्यवहार विधौ नृणाम् ।।

32· बृहस्पति, 1·28-30

33· मनु0, 8·49

34· वही, 8·48-50, 176

35· वही 8·73

36· वही, 8·175; 9·307

37· वही, 8·335

38· वही, 8·127-28

39· वही, 8·12-19

40· वही, 8·316-17

41· वही, 8·43

42· मेधा0, 8·43

43· मनु0, 8·312-13

44· वही, 8·45

45· वही, 8·43-123, 144-78 तथा 9·270

46· वही, 8·58,79

47· वही, 8·79

48· वही, 8·58

49· वही, 8·59

50· वही, 8·192

51· वही

52· मेधातिथि, 8·192

53· मनु0, 8·58

54· नारद-स्मृति, 2·5

55· मनु0, 3·47

56· वही, 8·52

57· वही, 8·159

58· वही, 8·212-13

59· वही, 8·154

60· वही, 8·168

61· वही, 8·164-65

62· वही, 8·168

63· वही, 7·55

64· इण्डिया, पृष्ठ 92

65· मनु0, 8·147

66· मेधातिथि, वही, 7·147

67· मनु, 7·148

68· वही, 8·252

69· वही, 8·200

70· वही, 8·74

71· कुल्लूक, वही

72· मनु0, 8·101

73· वही, 8·80,88·101

74· वही, 8·81-100

75· मनु0, 9·120-23

76· मेधा0, 8·123,380

77· मनु0,8·103-4

78· वही, 8·105-106

79· वही, 8·117

80· वही, 8·78

81· वही, 8·73

82· वही, 8·69

83· वही,8·62-63

84· वही, 8·64·68

85· वही, 8·68

86· वही, 8·109

87· मेधा0, वही, तत्रापथेनापि वक्ष्य प्रमाणेन दैवानुमानेन लम्भयेज्जानीयात् । प्राप्ति वचनो सामर्थ्याज्ज्ञानात्यर्थः ।

88· मनु0, 8·10

89· वही, 8·110

90· वही, 8·113

91· वही, 8·111

92· वही, 8·114-15

93· वही, 9·114-15

94· वही, 8·116

95· याज्ञ0, 2,103-109

96·मृच्छकटिक अंक 9

97· वाटर्स, जिल्द 1, पृष्ठ 172

98· कादम्बरी ,पृष्ठ 95

99· अल्तेकर, ए0एस0: स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 257-58

100· मनु0, 8·44, यथानयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।

नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्।।

101· मनु0 8·354-63

102· वही, 9·270

103· वही, 8·265

104· वही, 8·24

105· वही, 8·45

106· वही, 8·53-57

107· वही, 9·234

108· वही, 9·263

109· भारुचि, वही

110· मनु0 8·129, वाग्दण्डं प्रथम कुर्यात् धिग्दण्डं तदन्तरम्।

तृतीयंधनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ।।

111· मनु0, 8·187,·9·283

112· वही, 8·124-25

113· वही, 9·230

114· मनु0, 8·310

115· वही, ९·288

116· वही, 8·220,375

117· वही, 7·16

118· वही, 8·126

119· मेधातिथि, वही

120· मनु0, 8·34९-50

121· वही, 8·351

122· वही, 9·264

123· वही, 8·223-235

124· वही, 8·2९0-९2

125· वही, 3·331·3९

126· वही, 8·235

127· वही, 3·120-23

128· वही, 8·412

129· वही, 10·९6

130· वही, 8·371

131· वही, 8·336

132· वही, 8·36९-70

133· वही, 8·198,331

134· वही, 8·276·77

135· मनु0, 8·354

136· वही, 8·236·41

137· वही 9·284

138· वही, 8·379-81

139· वही, 8·267-72, 276-77, 279-84, 365-66; 368, 373-85

140· वही, 8·286

141· वही, 8·285

142· वही, 8·320-331

143· वही, 8·193

144· वही, 9·278

145· वही, 8·340

146· वही, 9·272

147· वही, 9·271

148· वही, 9·274

149· वही, 8·334

150· वही, 9·276·77

151· वही, 8·279

152· वही, 8·280-82

153· बेनीप्रसाद: थियरी आफ गवर्नमेन्ट इन एन्शान्ट इण्डिया, पृष्ठ 44·

154· मनु0, 9·288

155· वही, 9·257-62

156· वही, 8·318

नवम् अध्याय

अन्तर्राज्य संबंध.

अन्तर्राज्य संबंध

यद्यपि मनुस्मृति में यह कहा गया है कि राजा शत्रु राजा के चिकीर्षित अर्थात् मन के अभिप्राय को राजदूत द्वारा ज्ञातकर इस प्रकार रहे कि उसे कोई कष्ट न हो तथा वह अपनी रक्षा के लिये संधि या बलवान राजा का आश्रय ग्रहण करे तथापि अधिकांशत: इसी बात पर बल दिया गया है कि राजा साम्राज्यवादी हो तथा अन्य राज्यों को जीतकर उन्हें अपने अधीन करे। मनु लिखते हैं कि राजा का कर्त्तव्य "अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा रखना" है। मेधातिथि इसका अर्थ यह लगाते हैं कि क्षत्रिय अर्थात् राजा को ब्राह्मण की भांति संतोषवृत्ति वाला नहीं होना चाहिए।[1] कुल्लूक तथा गोविन्द राज के अनुसार उसे न जीती गयी भूमि, हिरण्यादि को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए।[2] इस प्रकार कौटिल्य के समान मनु भी विजगीषु राजा की कल्पना करते हैं जिसका लक्ष्य पड़ोसी राज्यों को जीतकर एक छत्र साम्राज्य स्थापित करना है।

मण्डल सिद्धान्त-

अन्तर्राज्य संबंध के संचालन के संदर्भ में मनु जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं उसे "मण्डल सिद्धान्त" कहा जाता है। यह अन्तर्राज्य संबंधों का वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार कोई राज्य अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण विजगीषु का मित्र या शत्रु होता है। इस सिद्धान्त का उल्लेख वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में तो नहीं मिलता किन्तु अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, नीतिवाक्यामृत, राजनीतिप्रकाश,

नीतिमयूख एवं कामन्दकीय नीतिसार में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन मिलता है।[3]

मण्डल सिद्धान्त का आधार यह है कि जिस राज्य का विचार किया जा रहा है उससे संबंधित समस्त राज्यों का एक मण्डल है। इसमें मुख्यत: चार प्रकार के राज्य होते है--

1· केन्द्रस्थ राज्य जिसके राजा को सामान्यत: विजगीषु कहा जाता है।

2· विजगीषु का प्रमुख शत्रु ।

3· मध्यम अर्थात् जो विजगीषु तथा उसके शत्रु दोनों की भूमि के पास रहता है। यह दोनों में से किसी का पक्षधर नहीं होता तथा दोनों विरोधियों में सन्धि होने पर अनुग्रह करने में तथा विग्रह होने पर दण्डित करने में समर्थ होता है।

4· उदासीन अर्थात् वह राजा जो विजगीषु तथा शत्रु दोनों से दूर रहने के कारण उनके झगड़े में किसी प्रकार की रुचि नहीं रखता।

मनु लिखते हैं कि राजा विजगीषु, मध्यम, उदासीन तथा शत्रु - इन चारों की चेष्टाओं और प्रयत्नों का विचार करे।[5] ये मण्डल की चार मुल प्रकृतियां हैं। इसके अतिरिक्त आठ अन्य प्रकृतियां भी बताई गयी हैं--

1· मित्र

2· अरिमित्र

3· मित्र-मित्र

4· अरि मित्र-मित्र

5· पार्ष्णिग्राह

6. आक्रन्द

7. पार्ष्णिग्राहसार

8. आक्रन्दासार।

मनु के टीकाकारों ने इस संबंध में कामन्दक[6] को उद्धृत करते हुए बताया है कि इनमें प्रथम चार शत्रु की भूमि से आगे की ओर तथा अन्तिम चार पीछे की ओर स्थित होते है। विजगीषु की अनुपस्थिति में पीछे से उसके राज्य पर आक्रमण करने वाला पार्ष्णिग्राह कहलाता है। उसका पड़ोसी जो उसके आक्रमण को रोक सके, आक्रन्द है। पार्ष्णिग्राह के सहायक को पार्ष्णिग्राह सार आक्रन्द के सहायक को आक्रन्दसार कहा गया है।

इस प्रकार कुल मिलाकर बारह प्रकृतियां हैं । प्रत्येक की पांच द्रव्य प्रकृतियां बताई गयी हैं--

1. अमात्य

2. राष्ट्र

3. दुर्ग

4. अर्थ तथा

5. दण्ड।

अत: सम्पूर्ण मण्डल बहत्तर प्रकृतियों से अयुक्त होता है।[7] इन्हीं को केन्द्र मानकर किसी भी राजा को अन्तर्राज्य राजनीति पर विचार करना चाहिए। यही भारतीय विचारधारा के अनुसार शक्ति संतुलन का सिद्धान्त है।[8] इसके द्वारा विजगीषु राजा, उसके मित्र तथा शत्रु और उसके मित्र राजाओं के बीच शक्ति संतुलन कायम किया जाता है। विजगीषु राजा अपने

पड़ोस तथा दूर के मित्रों की ऐसी योजना तैयार करता है कि दूसरे राज्य उससे शक्तिशाली न हो तथा दुर्बल ही बने रहें। विजगीषु के संबंध में ही मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कामन्दक ने विजगीषु की परिभाषा इस प्रकार दी है- जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातों तत्वों से सम्पन्न है, जो महोत्साही है तथा जो उद्योगशील है, वह विजगीषु कहलाता है।[9] कहा गया है कि राजा अलग-अलग या मिले हुए उन सभी को साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से, पुरुषार्थ से और नीतिसे अपने वश में करे।[10] शत्रु मित्र या उदासीन राजा जिस कार्य को करने से उस राजा को पीड़ित न करे- संक्षेप में यही राजनीति है।[11]

इस बात पर बल दिया गया है कि राजा दूसरे राजाओं की स्थिति कौन पक्ष में है, कौन विपक्ष में, तथा शत्रु राज्य के लोगों को अपने वश में करने का विचार करे। वह अपने राज्य के पार्श्ववर्ती राजा को शत्रु जाने तथा उसके मित्र को भी , शत्रु के बाद में रहने वाले राज्य के राजा को अपना मित्र तथा उसके बाद (कहीं दूर) रहने वाले राजा को उदासीन समझे।[12] मेधातिथि तथा कुल्लुक के अनुसार उदासीन राजा शत्रु तथा मित्र दोनों ही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि पड़ोसी राजा शत्रु होता है तथा शत्रु का शत्रु, मित्र होता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी पड़ोसी राज्य शत्रु ही हों। मनुस्मृति में सामन्त राजाओं का भी उल्लेख मिलता है जहां बताया गया है कि वे राज्य की रक्षा के लिये नियुक्त थे।[13] स्पष्टतः ये शत्रु नहीं हो सकते। इनसे तात्पर्य अधीन पड़ोसी से है जिन्हें सीमा की रक्षा के लिये रखा जाता था। अतः तात्पर्य यह है कि विजगीषु प्रतिद्वन्दी राजा

ही शत्रु होंगे। इस सम्बन्ध में नीतिवाक्यामृत का यह कथन स्मरणीय है कि 'यह कोई नियम नहीं होना चाहिए कि पड़ोसी सदा शत्रु ही हो तथा दूर का राजा मित्र ही। सान्निध्य एवं दूरी शत्रुता व मित्रता के कारण नहीं है बल्कि उद्देश्य ही मुख्य है जिसके कारण मित्र या शत्रु बनते हैं।'[14] मेधातिथि का भी कहना है कि स्वार्थ आ पड़ने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है।[15] इस प्रकार मण्डल सिद्धान्त राजाओं की विदेशनीति का आधार स्तम्भ है।

अन्तराज्य संबंधों में मित्र की आवश्यकता पर बड़ा बल दिया गया है। मनु का कहना है कि भूमि, सोना (हिरण्य) और मित्र राजा के प्रयत्नों के तीन फल हैं। राजा सोना और भूमि पाकर उतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर; भले ही वह अल्पकोष वाला हो क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जायेगा। यदि कोई स्थायी मित्र मिल सके और यदि वह वर्तमान काल में दुर्बल हो किन्तु भविष्य में जिसके बलवान होने की संभावना हो तो वह भूमि या धन के लाभ से अधिक उपयोगी होता है।[16] श्रेष्ठ मित्र के जो गुण बताये गये हैं उनके अनुसार "धर्मज्ञ, कृतज्ञ, संतुष्ट अमात्यादि प्रकृति वाला, अनुरक्त, स्थिर कार्यारम्भ (अर्थात् जो कार्य करे वह स्थायी रूप से करे, क्षण-क्षण में अपनी योजना में परिवर्तन करने वाला न हो) दुर्बल मित्र भी श्रेष्ठ होता है।"[17] कहा गया है कि राजा को मित्र के प्रति सरल व्यवहार करना चाहिए।[18]

षड्गुण सिद्धान्त-

मण्डल में व्यवहार करने के लिये नीति की दृष्टि से छः प्रकार के मार्गों का उल्लेख किया गया है। इन्हीं के द्वारा वैदेशिक नीति का संचालन

किया जाता था। इन्हें "षड्गुण" कहा गया है जो इस प्रकार है-

1· सन्धि

2· विग्रह

3· यान

4· आसन

5· संश्रय

6· द्वैधीभाव ।

कहा गया है कि राजा सदा इनका चिन्तन करे।[19] मनु के अतिरिक्त कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, अग्निपुराण, कामन्दक आदि में भी षड्गुणों का उल्लेख मिलता है तथा राजा को तदनुसार आचरण करने की सलाह दी गयी है।[20] प्राचीन ग्रन्थों एवं टीकाओं में इनकी परिभाषा भी दी गयी है। दो राज्यों में परस्पर मित्रता जिससे उभयपक्ष का लाभ हो सन्धि तथा परस्पर युद्ध की स्थिति का होना विग्रह है। किसी अन्य राजा पर आक्रमण "यान" तथा शत्रु की उपेक्षा कर शान्तभाव से किले आदि सुरक्षित स्थान में बैठ जाना "आसन" है। अपने कार्य की सिद्धि के लिये सेना को दो भागों में बाँट कर कार्य करना द्वैधी-भाव तथा शत्रु द्वारा दबाये जाने पर उससे बलवान दूसरे राजा की शरण में जाना "संश्रय" कहा गया है।[21]

मनुस्मृति में प्रत्येक गुण के दो दो भेद बताये गये हैं-

सन्धि- यह दो प्रकार की है- समान कर्मा तथा असमान कर्मा। प्रथम में तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा के साथ मिलकर शत्रु पर आक्रमण किया जाता है, जब कि दूसरे में आपसी सहमति से अलग-अलग आक्रमण किया जाता है।

विग्रह- इसके दो भेद इस प्रकार हैं-

1. शत्रु पर विजय प्राप्त करने के निमित्त समय (अगहन मासादि) अथवा असमय में किया गया युद्ध।

2. किसी राजा द्वारा अपने मित्र पर आक्रमण या उसे किसी प्रकार हानि पहुँचाने पर मित्र की रक्षा के लिये किया गया युद्ध ।

यान- इसके भेद हैं-

1. अत्ययिक अथवा आवश्यक कार्य आ जाने पर अकेले आक्रमण करना । मेधातिथि का विचार है कि इससे तात्पर्य आकस्मिक आक्रमण है।

2. स्वयं असमर्थ होने पर मित्र के साथ आक्रमण करना।

आसन- दो प्रकार के हैं-

1. भाग्यवश या पूर्वजन्म के कार्यवश सेना, कोष आदि के क्षीण हो जाने पर या समृद्ध रहने पर भी राजा के घेरे में पड़े रहना।

2. मित्र के अनुरोध से उसकी रक्षा के लिये शत्रु घेरे में पड़े रहना।

द्वैधीभाव- इसके भेद हैं-

1. कार्य सिद्धि के लिये सेना के दो भाग करके एक भाग शत्रु से बचाने के लिये सेनापति के अधीन रखना।

2. सेना के दूसरे भाग को किले आदि में राजा के अधीन रखना।

संश्रय- इसके भेद इस प्रकार कहे गये हैं-

1. शत्रु द्वारा पीड़ित होने पर आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय ग्रहण करना।

2. भविष्य में पराजय की आशंका से किसी बलवान राजा का आश्रय

ग्रहण करना।[23]

इन षड्गुणों के व्यवहार में लाने के समय के विषय में भी मनु संक्षिप्त विवरण देते हैं। यह इस प्रकार है-

1. जब राजा निश्चय समझले कि भविष्य में उसकी शक्ति बढ़ेगी तथा वर्तमान में (शत्रु या अन्य किसी से सन्धि करने में) थोड़ी हानि होगी तो उसे सन्धि का आश्रय लेना चाहिए।
2. जब राजा अपनी प्रकृतियों को अत्यन्त संतुष्ट समझे तथा अपने को भी अधिक सम्पन्न जाने तो युद्ध करना चाहिए।
3. जब अपनी सेना आदि को बलवती तथा शत्रु सेना को दुर्बल समझे तब आक्रमण करना चाहिए।
4. जब हाथी आदि वाहनों से तथा अमात्यादि शक्तियों से अपने को अत्यन्त क्षीण समझे तो यत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ चुपचाप बैठ जाय।
5. जब राजा सब प्रकार से शत्रु को अपने से बलवान समझे तब अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर अपना कार्य सम्पन्न करे। इस पर टिप्पणी करते हुए मेधातिथि तथा कुल्लूक लिखते हैं सेना के एक भाग को शत्रु को रोकने के लिये नियुक्त करे तथा दूसरे भाग को आत्मरक्षार्थ अपने अधीन किला आदि सुरक्षित स्थान में रखकर मित्रादि सहायक साधनों का संग्रह करे।[24]
6. जब राजा शत्रु द्वारा अपने को पराजित होने योग्य जान ले तब शीघ्र ही बलवान राजा का आश्रय ग्रहण कर ले। इस पर कुल्लूक का विचार है कि

जो राजा उसके विद्रोही आमात्यादि प्रकृतियों तथा शत्रु सेना का निग्रह कर सके ऐसे ही बलवान की सेवा गुरू के समान करनी चाहिए। किन्तु यदि इस

रिस्थिति में भी अपनी कार्यसिद्धि न दिखाई दे तो शंका रहित होकर युद्ध करना चाहिए।[25] कौटिल्य लिखता है कि शत्रु की अपेक्षा अपने को दुर्बल समझने वाला राजा विजगीषु के साथ सन्धि कर ले। शक्ति सिद्धि आदि में अपने को प्रबल समझने वाला राजा शत्रु के साथ विग्रह (युद्ध) कर सकता है। "मुझे कोई शत्रु परास्त नहीं कर सकता तथा मैं भी शत्रु को परास्त नहीं कर सकता" ऐसी परिस्थिति में राजा को आसन (उपेक्षाभाव) ग्रहण करना चाहिए। अपने में गुण का आधिक्य होने पर आक्रमण तथा निर्बल जानने पर किसी बलवान का संश्रय करे। किसी कार्य में सहायता की अपेक्षा होने पर वह द्वैधी भाव का अवलम्बन कर सकता है।[26] कामन्दक तथा शुक्र ने भी अन्तर्राज्यिय संबंधों के प्रसंग में इन गुणों का वर्णन किया है। कामन्दक लिखते है कि राजा को दूरस्थ माण्डलिक राजाओं को अपना मित्र बनाना चाहिए। उनसे अपना बल बढ़ाकर विजगीषु मध्य में चले और मित्रों के साथ एकत्र हो शत्रु से युद्ध करे और यदि अशक्त हो तो नम्रभाव से संधिकर ले।[27] कामन्दक ने सोलह प्रकार की संधियां बताई है- कपाल, उपहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतिकार, संयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्ममिष, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परिभूषण तथा स्कन्धोपनेय। बराबर वाले से मेल करना कपाल सन्धि है, द्रव्य देकर की गयी उपहार संधि है, कन्यादान करने से सन्तान सन्धि, श्रेष्ठों के साथ मित्रता संगत सन्धि, श्रेष्ठकार्य के लिये की गयी उपन्यास सन्धि है। "हम दोनों के मुख्य योद्धाओं से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो" ऐसा प्रण करके की गयी सन्धि पुरुषान्तर है। कामन्दक उपहार सन्धि को सर्वश्रेष्ठ मानते है।[27] अन्य संधियों का विवरण नहीं मिलता। शुक्र भी मनु के ही समान षड्गुणों की

चर्चा करते है।[28] उनके अनुसार बलवान राजा बलवान शत्रुओं से जिन क्रियाओं से मित्र बन जाय वह सन्धि है। राजा को सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए। जिसकार्य द्वारा दबाया हुआ शत्रु अपने अधीन हो जाय वह विग्रह है, शत्रु के नाश के लिये अपनी विजय के निमित्त उस पर चढ़ाई करना यान है। जिस स्थान पर बैठने से अपनी सुरक्षा और शत्रु का नाश संभव हो उस स्थान पर बैठने को आसन कहते हैं। जिन मित्रों से सुरक्षित होकर दुर्बल राजा भी बलवान हो जाय उसे आश्रय कहते हैं तथा अपनी सेना को शत्रु और मित्र दोनों के स्थानों पर नियुक्त करना द्वैधी भाव है।

मनु लिखते हैं कि राजा अपने कार्य को देखकरआसन यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय का पालन करे। इस पर टिप्पणी करते हुए कुल्लूक तथा गोविन्दराज लिखते है कि जिस उपाय से अपना लाभ या समृद्धि तथा दूसरे (शत्रु) की हानि हो राजा को उसी उपाय का अवलम्बन करना चाहिए।[29] मेधातिथि का भी विचार है कि जहां जो उपाय उपयोगी हो उसी का अवलम्बन किया जाना चाहिए।[30]

चार उपाय:- वैदेशिक नीति के ही प्रसंग में षड्गुणों के साथ-साथ चार उपायों का भी उल्लेख किया गया है। कूटनीति के चार उपायों का महाकाव्यकाल से ही प्रयोग किया जाने लगा था और ये बाद के युगों में आदर्श हो गये। इस समय के लोग चार उपायों से ही नहीं वरन षाड्गुण सिद्धान्त से भी परिचित थे। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये राजा को इनमें से किसी का भी प्रयोग करना पड़ सकता था। हाथी गुम्फा लेख से पता चलता है कि खारवेल ने अपने

अभिषेक के दसवें वर्ष दण्ड, सन्धि, साम, नीति के अनुसार अभियान किया था। लेख की तिथि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग की है। इससे भी विदित होता है कि ईसा के शदियों पूर्व से ही इन उपायों का अवलम्बन किया जाता था। ये हैं--

1. साम
2. दान
3. भेद तथा
4. दण्ड।[33]

इन उपायो में "साम" का अर्थ है अपने व्यवहार से दूसरों को संतुष्ट तथा प्रसन्न करके उन्हें अपने वशीभूत अथवा अनुकूल बना लेना। सज्जन को वश में करने का सर्वोत्तम उपाय साम ही है। यह दो प्रकार का कहा गया है तथ्य (वास्तविक) अर्थात सच्चे हृदय से किया हुआ तथा अतथ्य (झूठा व दिखावा ही)। दाम को कही कहीं दान भी कहा गया है। मेधातिथि के अनुसार प्रीति उत्पन्न करने के लिये द्रव्य, हिरण्य आदि प्रस्तुत करना दान है। कुल्लुक इसमें हस्ति, अश्व, रथ आदि भी शामिल करते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसे धन देकर अपने वश में न किया जा सकता हो। दान से देवता भी वश में होते है। दानवान् राजा शत्रुओं को शीघ्र ही जीत लेता है। कौटिल्य का मत है कि यदि कोई राजा अपने से दुर्बल है तो उसे साम और दान द्वारा अपने वश में करना चाहिए।[34] भेद का अर्थ है किसी उपाय से संघटित शत्रु में फूट डाल देना तथा जब इन तीनों से कार्य न हो तो दण्ड अर्थात् दमन करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार बलवान के लिये भेद और दण्ड का ही प्रयोग करना चाहिए।

यद्यपि इन उपायों का प्रयोग आन्तरिक प्रशासन में भी करने को कहा गया है तथापि मुख्य प्रयोग पर-राज्य संबंधोंके लिये ही है। मण्डलनीति के प्रारम्भ तथा अन्त में इनका उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में कहा गया है कि "राजा सब उपायों (सामादि) से ऐसा करे जिससे इसके शत्रु, मित्र तथा उदासीन अधिक न हों।[35] अधिक होने से तात्पर्य मेधातिथि तथा कुल्लूक यह लगाते हैं कि वे अधिक बलशाली, वैभवशाली, प्रभावी अथवा राज्य सम्पन्न न हों। अधिक शक्तिशाली मित्र भी शत्रु हो सकता है। मेधातिथि इस प्रसंग में व्यास का उद्धरण देते हुए लिखते हैं "कोई किसी का मित्र अथवा शत्रु नहीं होता। सामर्थ्य योग से ही मित्र अथवा शत्रु समझना चाहिए।[36] इनके अनुसार इन उपायों से ही मण्डल का विचार करना चाहिए। बताया गया है कि राजा इन उपायों का सम्मिलित रूप से अथवा अलग अलग इस प्रकार अवलम्बन करे कि मित्र, शत्रु उदासीन सभी उसके वश में हो जाय। सब आपत्तियों को एक साथ अधिक मात्रा में उपस्थित जानकर विद्वान् राजा सम्मिलित रूप से या पृथक्-पृथक् सब उपायों को काम में लाये तथा उपेता (स्वयं), उपेय (प्राप्त करने योग्य अर्थात् शत्रु) तथा सम्पूर्ण सामादि उपाय - इन तीनों का अवलम्बन कर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयत्न करे।[37] इस विवरण से स्पष्ट है कि इन चार उपायों का प्रयोग मुख्यत: वैदेशिक नीति के संबंध में ही प्रतिपादित किया गया है।

उल्लेखनीय है कि मनु द्वारा प्रतिपादित चार उपायों का अन्य ग्रन्थों में भी उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण में इनकी संख्या बढ़ाकर सात कर दी गयी है तथा इनकी सूची में माया, इन्द्रजाल तथा उपेक्षा को जोड़ा है।[38]

माया का अर्थ है कपटपूर्ण चालाकी, उपेक्षा का अर्थ है अन्याय करते हुए किसी दोषयुक्त से लिप्त तथा युद्ध करते हुए शत्रु की ओर से उदासीन हो जाना तथा इन्द्रजाल का अर्थ है मन्त्र प्रयोग तथा अन्य चालाकियों से भ्रम उत्पन्न कर देना। कामन्दक लिखते हैं कि राजा को साम, दाम तथा मान से प्रकृति को प्रसन्न रखना चाहिए तथा भेद और दण्ड के उपायों से शत्रुओं को जीतना चाहिए।[39] शुक्रनीतिसार में भी इन चार उपायों का उल्लेख मिलता है। शुक्र ने साम को सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया है।[40] सोमदेव सूरि भी राजा द्वारा इन उपायों के अवलम्बन की बात करते हैं। भेद से उनका आशय यह है कि राजा गुप्तचरों और विष देने वालों के द्वारा शत्रु सेना में पारस्परिक अविश्वास और संघर्ष उत्पन्न कर दे।[41]

कामन्दक नीतिसार, मानसोल्लास, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थों में इन चार उपायों की विस्तृत व्याख्या मिलती है। इनकी कुछ सामान्य बातें इस प्रकार है-

साम- इसके पांच भेद बताये गये है- एक दूसरे के प्रति किये गये अच्छे व्यवहार, जीते जाने वाले लोगों के गुणों की प्रशंसा, एक दूसरे के संबंध की घोषणा भविष्य में होने वाले शुभ प्रतिफलों की चर्चा तथा मैं आपका हूं और आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ की उद्घोषणा।

दाम या दान इससे तात्पर्य है - एक दूसरे की धरोहर लौटाना एक दूसरे द्वारा सम्पत्ति ग्रहण की सहमति, किसी नवीन वस्तु की भेंट, मांगने पर किसी वस्तु का दान तथा समय पर प्रतिश्रुत वस्तुओं को भेज देना।

भेद- इसमें प्रमुख है- मंत्रियों, सामन्तों या उच्च पदाधिकारियों को रिश्वत देना, राजा एवं मंत्रियों के बीच अविश्वास उत्पन्न करना व राजा को अन्य

लोगों के विरुद्ध भड़का देना धनिकों एवं राजा-के-बीच अविश्वास उत्पन्न करना आदि। कहा गया है कि भेद उपाय में गुप्तचर लगे रहते हैं।

दण्ड- इसका अर्थ है स्वदेश में अपराधी को फांसी, शारीरिक दण्ड या अर्थ दण्ड देना, शत्रुओं से युद्ध करना, शत्रु देश का नाश करना, धन-धान्य पशु, दुर्ग आदि पर अधिकार करना ग्राम में जंगलों को जलाना, लोगों को बन्दी बनाना आदि।

चार उपायों के विवरण के संबंध में परस्पर विरोधी बातें भी मिलती हैं। मनु एक स्थान पर लिखते है कि "राजा दण्ड सर्वत्र उद्यत रखे क्योंकि सर्वदा दण्ड से युक्त रहने वाले राजा से सभी संसार डरता है। अत: वह सभी को दण्ड द्वारा ही वश में करे।" किन्तु आगे इससे उल्टी बात कही गयी है- राजा पहले युद्ध से जीतने की कदापि चेष्टा न करे क्योंकि युद्ध में विजय या पराजय बिल्कुल निश्चित नहीं रहती, अत: युद्ध का त्याग करना चाहिए।[42] इस विरोधाभास का समाधान यह मानकर किया जा सकता है कि प्रथम वर्णन आन्तरिक प्रशासन में दुष्टों का दमन करने के निमित्त किया गया है जबकि दूसरे का संबंध पर-राज्य संबंधों से है। कामन्दक नीतिसार[43] में भी कहा गया है कि युद्ध से प्राय: दोनों पक्षों का ही नाश होता है, अत: साम, दाम, भेद तीनों के विफल होने पर ही युद्ध का आश्रय लिया जाय। किन्तु यातव्य (जिस पर आक्रमण करना निश्चित हो चुका है" पर आक्रमण के पूर्व एक दूत यह जानने के लिए भेज देना चाहिए कि वह मुठभेड़ करना चाहता है या झुक जाना चाहता है। शान्तिपर्व में बृहस्पति का मत उद्धृत करते हुए कहा गया

है कि युद्ध का वर्णन सदा करना चाहिए। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये दण्ड की अपेक्षा अन्य तीन उपायों की सहायता लेनी चाहिए।[44] बृहत्पराशर में आया है कि अन्य उपायों के न रहने पर ही दण्ड की सहायता लेनी चाहिए।[45]

सामादि चार उपायों का जो विवरण हमें राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होता है उसे देखने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका प्रयोग शत्रुओं तथा दूसरे राजाओं के साथ संबंध निर्धारित करने मात्र तक सीमित नहीं था अपितु राजनीति के अन्य मामलों में भी इनका उपयोग किया जाता था। मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर ने मत दिया है कि चार उपायों का प्रयोग न केवल राजाओं के लिये अपितु सामान्य लोगों के लिये भी श्रेयस्कर है।[46] आधुनिक युग, में भी विश्व के विभिन्न देश इनका प्रयोग आन्तरिक एवं बाह्य मामलों में कर रहे है। युद्ध को आज भी अन्तिम अस्त्र के रूप में देखा जाता है। अत: हमें प्राचीन राजनीतिक मनीषियों द्वारा प्रतिपादित चार उपायों के सिद्धान्त को आधुनिक राजनीतिशास्त्र के लिये एक महान् देन कह सकते हैं।

राजदूत

राज्यों की वैदेशिक नीति के क्रियान्वयन में राजदूत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में उसके लिये "दूत" का प्रयोग मिलता है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है संदेश वाहक। इसके साथ-साथ "चर" शब्द का भी उल्लेख है। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए कामन्दक

लिखते हैं कि जो प्रकाश में कार्य करता है वह "दूत" तथा जो छिपकर कार्य करता है वह "चर या चार" है।[47] जब कभी एक राज्य दूसरे पड़ोसी राज्यों के साथ शान्ति-संबंध स्थापित करने की इच्छा करता था या एक राज्य दूसरे को सरकारी तौर पर कोई पत्र या सूचना भेजना चाहता था, या जब कभी अनेक राजाओं का बड़े-बड़े यज्ञों, उत्सवों आदि में बुलाना होता था तो ऐसे एवं इसी तरह के अन्य कार्यों के लिये दूत का उपयोग किया जाता था।

भारत में राजनयिक संबंधों की व्यवस्था अथवा दौत्य कर्म के अस्तित्व की प्राचीनता वैदिक काल तक जाती है। ऋग्वेद में "स्पश्" नामक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है। कई स्थलों पर अग्नि को दूत माना गया है और उसे यज्ञों में देवताओं को बुलाने के लिये कहा गया है।[48] शतपथ ब्राह्मण[49] में "पालागल" शब्द मिलता है। इन शब्दों से तात्पर्य दूत से ही है। रामायण तथा महाभारत में दौत्यकर्म के संबंध में अनेक उदाहरण मिलते हैं।[50] प्राचीन तमिल ग्रन्थ तोल्काप्पियम्, कुरल, शिल्पादिकारम् आदि में दूत संबंधी महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है।[51] ऐतिहासिक काल में हम देखते है कि मगध नरेश बिम्बिसार के दरबार में गन्धार नरेश पुक्कुसाति ने अपना दूत भेजा था। सिकन्दर के आक्रमण के दौरान कई भारतीय राजाओं ने उसकी सन्धि वार्ता के लिये दूत भेजे थे। सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज ने तो चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में कुछ काल तक निवास ही किया था। सीरियाई नरेश अन्तियोकस का राजदूत डाइमेकस बिन्दुसार के दरबार में आया था। इसके बाद भी विभिन्न कालों में राजदूतों का आवगमन जारी रहा। तक्षशिला के यवन शासक अन्तियालकीड्स का राजदूत हेलियोडोरस शुंग नरेश भागभद्र

के विदिशा स्थित दरबार में उपस्थित हुआ। इसकी सूचना वहाँ उसी के द्वारा स्थापित किये गये गरुड़-स्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण लेख से प्राप्त होती है।[52] इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि राजदूत दूसरे राज्यों की राजधानियों में कुछ समय के लिये निवास भी करते थे। इस संबंध में कौटिल्य राजदूतों को निर्देश देता है कि वे तब तक विदेशी राज्य की राजधानी में निवास करें जब तक अंगीकृत प्रयोजन की सिद्धि की कुछ आशा हो अन्यथा तत्काल वापस लौट आवें। उसने दूत के निम्नलिखित कर्त्तव्य बताये हैं—[53]

1. अपने स्वामी का संदेश शत्रु के पास पहुँचाना।
2. संदेश के उत्तर को शत्रु राजा से प्राप्त कर अपने प्रभु के पास भेजना।
3. पूर्वकाल में हुई सन्धियों का पालन करना।
4. अवसर आने पर अपने राजा का प्रताप प्रदर्शित करना।
5. मित्रों का अधिकाधिक संग्रह करना।
6. शत्रु के मित्रों में भेद डालना।
7. शत्रु की सेना और गुप्तचरों को अपने राज्य से बाहर करना।
8. शत्रु के बन्धुबान्धव तथा रत्नों का अपहरण करना।
9. गुप्तचरों से संवादों का समुचित संग्रह करना।
10. शत्रु की कमजोरी देखते ही उस पर आक्रमण करने की व्यवस्था करना।
11. सन्धि के अनुसार कैदियों को मुक्त कराना।
12. कर्मयोग का आश्रय लेना।

कौटिल्य लिखता है कि "राजा दूतों द्वारा इन कार्यों को सम्पन्न कराये तथा शत्रु के दूतों पर कड़ी नजर रखे। उनका अन्य दूतों, गुप्तचरों, प्रत्यक्ष

तथा अप्रत्यक्ष रक्षकों द्वारा बराबर पता लगाता रहे।

प्राचीन राजनीतिक विचारकों की परम्परा का अनुकरण करते हुए मनु भी लिखते है कि "सन्धि तथा विग्रह दूत के अधीन होता है।"[54] मेधातिथि लिखते हैं कि दूत प्रियवचनों द्वारा अपने प्रभु के कार्य को प्रदर्शित करते हुए सन्धि करा देता है तथा इसके विपरीत करता हुआ युद्ध भी करा देता है। मनु दूत का उल्लेख सेनापति तथा राजा के साथ करते हैं। इससे सूचित होता है कि वह कोई साधारण कर्मचारी नही था अपितु उसका पद सेनापति के ही समान अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था। उसे मंत्रिपरिषद् का सदस्य माना जाता था।

दूत की नियुक्ति राजा द्वारा ही की जाती थी। उसके लिये कुछ योग्यतायें अपेक्षित थीं। मनु के अनुसार-

1. उसे सर्वशास्त्रविशारद अर्थात् सभी शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। कुल्लूक के अनुसार उसे दृष्ट एवं अदृष्ट शास्त्रों का जानकार होना चाहिए।
2. उसे इङ्गित, आकार तथा चेष्टा को समझने वाला होना चाहिए। कुल्लूक के अनुसार इंगित से तात्पर्य, वचन, स्वर आदि अभिप्राय सूचक भाव आकार से तात्पर्य प्रेम और उदासीनता सूचक मुखाकृति तथा चेष्टा का अर्थ क्रोधादि सूचक नेत्रों का लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि है।
3. उसे पवित्र हृदय वाला होना चाहिए। मेधातिथि कहते हैं कि उसकी स्त्रियों में आसक्ति नहीं होनी चाहिए जबकि कुल्लूक इसका अर्थ यह लगाते हैं कि उसे अर्थ, स्त्री, व्यसन आदि से अनासक्त होना चाहिए। इस संबंध में

कौटल्य का अभिमत है कि दूतों को स्त्रियों तथा मद्यपान से दूर रहना चाहिए। कामरुचि के अनुसार स्त्रियों के साथ संबंध से मन्त्रभेद होता है और इस प्रकार कार्य पूरा नहीं हो सकता।

4. उसे चतुर होना चाहिए इसका अर्थ मेधातिथि तथा कुल्लूक ने यह लगाया है कि उसे देशकाल का विचार कर तदनुसार कार्य करने में पटु होना चाहिए।

5. उसे श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होना चाहिए। उल्लेखनीय है कि मनु मन्त्रियों के लिये भी उच्च कुलीन होना अनिवार्य मानते हैं।

6. उसे आसक्ति रहित होना चाहिए। इससे तात्पर्य मेधातिथि तथा गोविन्दराज स्वामीभक्त होना लगाते हैं जबकि कुल्लूक का विचार है कि उसे लोगों में प्रिय होना चाहिए (जनेषु अनुरागवान्)।

7. उसे स्मृतिमान् अर्थात् अच्छी स्मृति का होना चाहिए। ऐसी दशा में ही वह स्वामी के संदेश को ठीक प्रकार से याद रखकर कह सकता है।

8. उसे प्रियदर्शी अर्थात् सुन्दर शरीर वाला होना चाहिए।

9. उसे निर्भीक अथवा भय-रहित होना चाहिए।

10. उसे वाग्मी अर्थात् बातचीत करने में निपुण होना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों से युक्त राजदूत को मनु ने श्रेष्ठ बताया है।[55] इसके गुणों पर टिप्पणी करते हुए कुल्लूक लिखते हैं कि "दूत के अनुरक्त होने से शत्रु राज्य के लोगों से भी मेल-मिलाप रहने से अधिक कार्य सिद्धि होगी, शुद्ध होने से स्वामिकार्य का नाश नहीं होगा, चतुर होने से अवसर पर नहीं चूकेगा, स्मरण शक्ति वाला होने से संदेश नहीं भूलेगा। देशकाल का जानकार होने से समय और परिस्थिति के अनुसार अपने विवेक से भी कार्य कर लेगा,

सुरूप होने से उसके वचन का प्रभाव दूसरे पर पड़ेगा, निर्भय होने से अप्रिय तथा कठोर संदेश कहने में भी नहीं चूकेगा तथा वाग्मी होने से सुसंस्कृत एवं युक्ति - संगत वचन कहेगा- इस प्रकार के राजदूत से कार्य सिद्धि अवश्य हो जायेगी।[56]

महाभारत में दूत के सात गुणों का उल्लेख मिलता है-[57]

1· स्तब्ध अर्थात् ढीठ न होना।

2· कायर न होना।

3· दीर्घसूची (मन्द) न होना।

4· दयालु एवं सुशील होना।

5· आसानी से दूसरों के पक्ष में न होना ।

6· निरोग होना ।

7· मृदुभाषी होना

सोमदेव के अनुसार दूत के गुण है:-- दक्ष, शूरवीर, शुचि, प्राज्ञ, प्रगल्भ,प्रतिभावान्, विद्वान्, वाग्मी, तितिक्षु (सहनशील), द्विजन्मा, स्थविर , प्रिय, स्वामिभक्त तथा दुर्व्यसनी।[58]

कौटिल्य दूतों में अमात्य गुण होना आवश्यक मानता है। वह तीन प्रकार के दूतों का उल्लेख करता है:

1-निसृष्टार्थ - इनमें अमात्यों के सभी गुण होने चाहिए। उसे अपनी बात कहने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। इनके दायित्व भी महत्वपूर्ण होते थे, जैसे- युद्ध से पहले अंतिम चेतावनी देना, युद्ध घोषित करना तथा संधि सम्पन्न करना। उसके द्वारा किये गये सन्धि या विग्रह को उसका स्वामी प्रामाणिक

मानता था। इस प्रकार दूतों की स्थिति आजकल के राजदूतों जैसी होती थी।

2· परिमितार्थ- इन्हें किसी विशेष कार्य का दायित्व सौंपा जाता था और महत्वपूर्ण वार्ता के लिये विशेष अधिकार दिया जाता था। वे मंत्री से एक चौथाई कम गुण रखते थे।

3. शासनहर- यह राजकीय घोषणाओं और संदेशों का वाहक होता था। इसमें मंत्री के आधे गुण पाये जाते थे।

अग्निपुराण के अनुसार ये विभिन्न राजदूत अपने ऊपर की श्रेणी के राजदूत से एक चौथाई कम शक्ति वाले होते थे।[59] जहां तक अमात्यों के गुणों का संबंध है इस विषय में कौटिल्य ने विभिन्न आचार्यों का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि पुरुष की सामर्थ्य देखकर किसी को भी अमात्य बनाया जा सकता है। अन्य गुणों में राजा का सहपाठी होना, राजा के प्रति निष्ठा-वान होना, अनुवंशिकता, बुद्धिमत्ता आदि को रखा गया है।[60]

कामन्दक के अनुसार तर्क और चेष्टा का जानकार, स्मृतिवान्, शीघ्र पराक्रमी, क्लेश और परिश्रम को सहनेवाला, चतुर, कालज्ञ, बुद्धिमान राजदूत श्रेष्ठ होता है। राज्य के पालकों को अपने अधीन करना, युद्ध और पलायन की भूमि का ज्ञान, दूत के कार्य कहे गये हैं।[61]

मनु लिखते हैं कि दूत ही शत्रु से मेल करा देता है और वही मिले हुए शत्रु से विग्रह भी करा देता है। दूत वह कार्य कर देता है जिससे मिले हुए मनुष्य भी परस्पर फूट जाते है। "मेधातिथि के अनुसार न कहने पर भी दूत

प्रिय संदेश देता है तथा प्रतिकूल आचरण नहीं करता । प्रिय संदेश देने से ही संधि या मेल मिलाप होता है। वह सुवर्ण आदि द्रव्यों को देने की लालच देकर शत्रु पक्ष के लोगों को अपनी ओर कर लेता है।[62] राजदूत शत्रु राज्य के भृत्यों में नियुक्त अनुचरों के आकार और चेष्टा को देखकर उनके आकार, इंगित और चेष्टा को समझे तथा सेवकों पर राजा का जो व्यवहार है उसे भी पहचाने। राजा को सलाह दी गयी है कि योग्य दूत द्वारा शत्रु राजा के मन का अभिप्राय जानकर इस प्रकार सावधानी पूर्वक रहे जिससे उसे स्वयं कोई कष्ट न हो।[63] किन्तु मेधातिथि तथा गोविन्दराज इसका अर्थ यह लगाते हैं कि शत्रु राजा के अभिप्राय को ठीक-ठीक जानकर राजदूत ऐसा उपाय करे जिससे उसके तथा उसके स्वामी के ऊपर कोई विपत्ति न आये।

इस प्रकार दूत राजा का संदेशवाहक मात्र न होकर शत्रु राज्य की सूचना एकत्र कर उससे अपने स्वामी को अवगत कराने वाला भी होता था। सम्पूर्ण अन्तर्राज्यि संबंध तथा राज्य का अस्तित्व भी बहुत कुछ राजदूत पर ही निर्भर करता था। कौटिल्य ने तो दूत को "राजा का मुख" ही कहा है।[64] कामन्दक लिखते है कि दूत रूपी नेत्रों वाला राजा सोते हुए भी जागता है। बुद्धिमान दूतों द्वारा राजा शत्रुओं के अपकार (छिद्र) को देखे। ऐसे दूतों से रहित राजा को अन्धे मनुष्य के समान बताया गया है।[65]

प्राचीन शास्त्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि दूत सदा अवध्य समझा जाता था। महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से एक स्थान पर कहते हैं कि दूत को किसी भी परिस्थिति में नहीं मारना चाहिए क्योंकि दूत-हन्ता राजा मंत्रियों सहित नरक में जाता है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है

कि जो राजा यथार्थवादी दूत का बध करता है उसके पितरों को भ्रूण हत्या का पाप लगता है। यह भी ज्ञात होता है कि दूत बनकर गये कृष्ण को जब दुर्योधन के सैनिकों ने मारने का प्रयास किया तो भीष्म ने इसे धर्मविरुद्ध कहा था।[66] कौटिल्य लिखता है कि दूत अबध्य है भले ही वह चाण्डाल क्यों न हो क्योंकि वह अपनी ओर से कोई बात नहीं करता बल्कि उसका काम तो दूसरों की कही हुई बात को दुहराना मात्र होता है।[67] रामायण में कहा गया है कि दूत संदेशवाहक मात्र है, अपने स्वामीकी ही बात वह कहता है, अत: यदि उसकी बात कटु और क्रोधजनक भी हो तब भी उस पर कुछ शासन नहीं करना चाहिए। रामायण में हनुमान का जो प्रसंग मिलता है उसके आधा पर कहा जा सकता है कि गम्भीर अपराध करने पर भी दूत का अंग-भंग मात्र किया जा सकता था, बध नहीं।

मनु राजदूत की स्थिति अथवा उसके वेतनादि का कोई विवरण नहीं देते। कौटिल्य उसे अमात्यों की श्रेणी में रखता है। सोमदेव दूर देशवर्ती राजकीय कार्यों के लिये भेजे जाने वाले अधिकारी को दूत की संज्ञा देते हुए उसे मंत्री के समकक्ष मानते हैं।[68] शुक्र ने भी उसे राज्य मंत्रिमण्डल में स्थान दिया है।[69] मनु के समय में भी यही स्थिति रही होगी।

विजित राज्यों के प्रति नीति - मनु का राजा षड्गुणों के माध्यम से शत्रु राज्यों को अपने अधीन करता है। विजित राज्यों में अपनाई जाने वाली नीति के विषय में भी मनुस्मृति में संक्षिप्त विवरण दिया गया है। मेधातिथि ने इसे "लब्धप्रशमनम्" नाम दिया है जिसका अर्थ है विजित राज्यों में शान्ति स्थापित करना। बताया गया है कि "विजय लाभ के पश्चात् देवताओं और

धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करना, परिहार देना तथा अभयदान की घोषणा करना" राजा का कर्त्तव्य है।[70] मेधातिथि परिहार दान से तात्पर्य करों तथा देयों से एक या दो वर्ष की छूट देना लगाते हैं। गोविन्दराज के अनुसार इसका अर्थ श्रोत्रिय तथा अन्य लोगों को उपहार देना है।[71] कुल्लूक के अनुसार इसका अर्थ देवताओं तथा ब्राह्मणों को दिया गया उपहार है।[72] नारायण इसे अग्रहारदान कहता है[73] जबकि राघवानन्द के अनुसार इसका अर्थ नागरिकों को वस्त्र तथा आभूषण देना है।[74] बूलर के अनुसार इसका अर्थ संभवतः करों में स्थायी छूट देने से है।[75] परिहार शब्द का उल्लेख पश्चिमी भारत के लेखों में प्रायः मिलता है। इसके विषय में जो विवरण दिया गया है उससे लगता है कि इसका अर्थ करों, देयों तथा अन्य उन्मुक्तियों से छूट है।[76]

बताया गया है कि विजगीषु उस शत्रु राजा, तथा मंत्री एवं प्रजा के मुख्य लोगों की अभिलाषा को मालूम कर उसी वंश में उत्पन्न व्यक्तियों को उस राजा में पुनः अभिषिक्त करे तथा उसके साथ समय-क्रिया "शर्तनामा" करे।[77] मेधातिथि के अनुसार अभिषिक्त राजा के साथ यह समझौता किया जाय कि कुछ कार्य तो वह अपनी इच्छा से करेगा किन्तु कुछ कार्यों में वह विजगीषु के अधीन होगा। इसी नीति को प्राचीन ग्रन्थों में धर्मविजयी राजा की नीति कहा गया है। इसमें पराक्रमी राजा छोटे-छोटे राजाओं को जीतकर उन्हें इस शर्त पर पुनः पदासीन कर देता था कि वे उसे कर देते रहेंगे तथा उसके प्रति स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते रहेंगे। यह प्रक्रिया गुप्तकाल तक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी। प्रयाग प्रशस्ति में इस नीति को "ग्रहण-मोक्षानुग्रह" कहा

गया है। ज्ञातव्य है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के राजाओं के साथ इस नीति का अनुसरण किया।[78] कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में भी इसका विवरण प्राप्त होता है जहाँ बताया गया है कि महाराज रघु ने महेन्द्र राजा को जीत लेने के बाद भी उसकी लक्ष्मी का अधिग्रहण किया था, पृथ्वी का नहीं।[79] हर्षवर्धन ने सिंध के राजा के साथ इसी नीति का अनुसरण किया। हर्षचरित के अनुसार उसने सिंध राज को युद्ध क्षेत्र में विमथित करने के उपरान्त उसकी लक्ष्मी को छीन लिया।[80] सामन्तवादी प्रक्रिया के विकास में इस नीति से बड़ी सहायता मिली।[81]

मनु इसी संदर्भ में आगे लिखते हैं कि "विजगीषु जीते हुए देश के निवासियों के धार्मिक कार्यों को यथावत् लागू करे और मंत्री आदि मुख्य लोगों के साथ उस नवाभिषिक्त राजा को रत्न आदि भेंट देकर उसका सत्कार करे।[82] यह भी आग्रह किया गया है कि अप्रिय लगने पर भी समयानुसार विजित लोगों से धन लिया जाय तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिये समय पर धन दिया भी जाय क्योंकि किसी के प्रिय पदार्थ के ले लेने से उसे दुख तथा दे देने से सुख होता है। अतः समय पर देना और लेना दोनों ही प्रशंसनीय होता है।[83] इस कारण मंत्रियों सहित अभिषिक्त राजा को रत्न आदि का उपहार देकर संतुष्ट रखना ही श्रेयस्कर है।

पर-राष्ट्रनीति के संबंध में यह भी बताया गया है कि राजा अपने पुरुषार्थ को प्रदर्शित करता रहे, गुप्त रखने योग्य (जिसका अर्थकुल्लूक विचार, राजकार्य, चेष्टा आदि करते हैं) को सदा गुप्त रखे, शत्रु के छिद्र को सर्वदा

देखता रहे, शत्रु के कपट को गुप्तचरों द्वारा जांच करे। इसके छिद्र को शत्रु न जान सके तथा राजा स्वयं शत्रु के छिद्र को ज्ञात करता रहे। कछुआ जैसे अपने अंगों को छिपा लेता है, वैसे ही राजा अपने अंगों (प्रकृतियों) को गुप्त रखे तथा यदि उनमें कोई भेद हो जाय तो उन्हें दूर कर दे। राजा स्वयं कभी माया का प्रयोग न करे किन्तु शत्रु द्वारा प्रयुक्त माया को ज्ञात कर ले।[84]

अन्तत: मनु पाश्चात्य राजनीतिक विचारक मैक्यावेली की भांति राजा को सलाह देते हैं कि- वह अपने (अर्थ) का बगुले के समान चिन्तन करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये के समान शत्रु का नाश करे तथा खरगोश के समान शत्रु घेरे से निकल भागे।[85] मेधातिथ तथा कुल्लूक जैसे मनु के टीकाकार भी राजा के पराक्रम पर विशेष बल देते हैं। इसे तत्कालीन राजनैतिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए आसानी से समझा जा सकता है। दसवी शती में विभिन्न राजवंशों के बीच संघर्ष चल रहा था तथा प्रत्येक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास कर रहा था। राजपूत युग राजाओं के पराक्रम और वीरता का काल था। पराक्रम और सैन्यशक्ति विहीन राजा का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता था। अत: समय के अनुरूप टीकाकारों द्वारा राजा के पराक्रम पर बल दिया जाना उचित ही था।

संदर्भ तथा टिप्पणियां

1· मेधातिथि 7·99, क्षत्रिय: संतुष्ट: स्याद्ब्राह्मणवत्किन्त्वलब्धार्जने यत्नं कुर्यात् ।

2· कुल्लूक, वही, अजितं भूमिहिरण्य जेतुमिच्छेत्।
गोविन्दराज, वही, अजितं भूमि हिरण्यसुवर्णादि जेतुं यत्नं कुर्यात् ।

3· अर्थशास्त्र· 6·एवं 7 प्रकरण, याज्ञ0 1/345-48,

कामन्दक नीतिसार, 8·18,24,

अग्नि0,233 एवं 240, विष्णुधर्मोत्तर 2/145-50,

नीतिवाक्यामृत, पृष्ठ 317-343,

राजनीतिप्रकाश, पृष्ठ, 316-30, नीतिमयूख, पृष्ठ 44-46

4· स्पेलमेन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 156

5· मनु0, 7·155-56

6· कामन्दक नीतिसार 8·16-17

7· मनु0, 7·157

8· सरकार,वी0के0:पालिटिकल इन्स्टीच्युसन्स एण्ड थिअरी आफ हिन्दूज, पृष्ठ 215-16

9· कामन्दक0,8-6, सम्पन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साह:कृतश्रम: ।

जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरितिस्मृत: ।।

10· मनु,7·159

11· वही ,180

12· वही, 158

13· वही, 9·272

14· नीति0, पृ0 321

15· मेधा0,7·177, स्वार्थगतिवशाच्चमित्राण्यरिर्भवति ।

16· मनु0 7·206,207

17· वही,7·209, धर्मज्ञं च कृतज्ञंचतुष्ट प्रकृतिरेवच ।

अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ।।

18· मनु0, 7·32

19· वही, संधिं च विग्रहंचैव यानमासनमेव च ।

द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ।।, 7·160

20· अर्थशास्त्र 8·1 याज्ञ0 1, 345-46,

कामन्दक, 11·27, अग्निपुराण, 324

21· अर्थशास्त्र 7·1, पणबन्धः सन्धिः अपकारो विग्रहः उपेक्षणमासनम

अभ्युच्चयोयानं परार्पणः संश्रयः सन्धिविग्रहोपादनं द्वैधी-

भावः इति षड्गुणाः।

22· मेधा0, 8·160, कुल्लुक वही

23· मनु0; 7·162-68

24· मेधातिथि तथा कुल्लुक, 7,173

25· मनु0, 7·169-76

26· अर्थशास्त्र, 7·1

27· कामन्दकनीतिसार, 9·21-22

28· शुक्रनीतिसार, 4·1065, संधिंच विग्रहं यानमासनं च समाश्रयम् ।

द्वैधीभावं च संविद्यान्मन्त्रस्यैतांस्तु षडगुणान् ।।

29· मेधा०, वही
कुल्लुक, 7·161, आत्मसमृद्धि परहान्यादिकं कार्यम् वीक्ष्य अनुतिष्ठेत्।

30· यद्युक्तं मन्येत तदेव तदाचरेत् ।

31· मुकर्जी, टी0वी0: इन्टर-स्टेट रिलेशन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 42

32· इपि0इण्डिका, 20, पृष्ठ 79·80

33· मनु0 7·198-200

34· अर्थ0 7·16

35· मनु0, 7·177

36· मेधा0,वही,
कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः।

सामर्थ्ययोगाद्विज्ञेया मित्राणि रिपवस्तथा।।

37· मनु0, 7·214-15

38· अग्नि पुराण,226·5-6

39· कामन्दकनीतिसार, 8·120, 47-66, 17·40-63

40· शुक्र04·17-37

41· नीति0, 23-10

42· मनु0, 7·198-99

43· कामन्दक0 18·1

44· शान्ति0 69·23

45· बृहत्पराशर, 10,पृष्ठ 281

46· याज्ञ01·346, एते सामादयो न केवलं राज्य व्यवहारविषया अपितु

सकल लोकव्यवहारविषयाः ।

47· कामन्दक,12·32

48· ऋग्वेद, 1·12·1, 1·161·3, 8·44·3

49· शतपथ ब्राह्मण, 5·5·1·1

50· अयोध्याकाण्ड, 100·35, उद्योग पर्व,37·27,72·7,

शान्तिपर्व,85·24

51· दीक्षितार,वार इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 351·52

52. इण्डियन एन्टीक्वेरी 14; पृष्ठ 128 तथा 16. पृष्ठ 227

53. अर्थशास्त्र, 1.16, प्रेषणं संधिपालत्वं प्रतापेोमित्र संग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम् ।।
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ।।

54. मनुस्मृति 7.65, दूते संधिविपर्ययौ ।

55. मनु0, 7.63.64

56. कुल्लूक, वही, 7.63.64

57. उद्योग0, 37.27; यशस्ति0, 3.112, तुलनीय कामन्दक 13.2, राजतरंगिणी, 3.186-89

58. मानसोल्लास, 2.2, 120-21

59. बी0बी0 मिश्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 117

60. अर्थशास्त्र, 1.9-16

61. कामन्दक-नीतिसार, 12.23-32, 15.32

62. मनु0, 7.66-67

63. वही, 68

64. अर्थ0 वही

65. कामन्दक-नीतिसार, 12:23-32

66. शान्तिपर्व, 85:25-27, उद्योग पर्व, 88/4 1.16

67. अर्थ0, 1.16

68· नीतिवाक्यामृतम् ।3·।

69· शुक्रनीति, 2·69·70

70· मेधातिथि0, वही -करभार शुल्क प्रदेशानांप्रदानेन तथा वा तं तत्तरमैको ड्डौ ··

71· गोविन्दराज, वही -श्रीत्रिया दिगतावस्यदानेषु मयैतदनुज्ञातमित्येवं

परिहारान् दद्यात्······।

72· कुल्लूक वही, देवब्राह्मणार्थं तद्देशवासिना परिहारान्दद्यात् ।

73· वही, परिहारान् अग्रहारान्

74· वही, परिहारान्वस्त्रांलंकारादीन् ।

75· सेक्रेड बुक आफ द इस्ट, खण्ड 25, पृष्ठ 196

76· आक्यालाजिकल रिपोर्ट आफ वेस्टर्न इण्डिया, खण्ड 4, पृष्ठ 114

77· मनु0, 7·202 सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।

स्थापयेत्तत्र तद्वंश्य कुर्याच्च समयक्रियाम् ।।

78· फ्लीट, कार्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम् 3, पृष्ठ 6 तथा आगे

79· रघुवंश 4·43, गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।

श्रियो महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ।।

80, हर्षचरित- (फ्यूरर द्वारा संपादित) पृष्ठ 139-

हर्षचरित अश्रुस्रोतोत्तरेण सिंधुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीयाकृता ।

81· शर्मा, आर0एस0, भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ 24

82· मनु0, 7·203, प्रमाणानि च कुर्वीततेषांधर्म्यान्यथोदितान् ।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधान पुरुषैः सह ।।

83· वही, 7·204

84· वही, 102-105

85· वही, 106

संदर्भ ग्रन्थ

मूल ग्रन्थ

वैदिक:

ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य सहित, 5 खण्ड, वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1933 ।

ऋग्वेद संहिता, अनु0 एच0एच0 विल्सन, 1866

हिम्स आफ ऋग्वेद, भाग । सेक्रेड बुक आफ द ईस्ट खण्ड 32, अनु0 मैक्समूलर तथा भाग दो अनु0 ओल्डेनवर्ग । खण्ड 46 अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा)- संपादक सी0आर0 लानमान, अनु0 डब्ल्यू0डी0 हि्वटने, हर्वर्ड विश्वविद्यालय 1905, सायण भाष्य सहित, संपादक पं0 पाण्डुरंग, 4 खण्ड बम्बई, 1895-98, अनु0 टी0एच0 ग्रिफिथ 2 खण्ड बनारस, 1916-17

हिम्स आफ अथर्ववेद, अनु0 एम0 ब्लुमफील्ड, द सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट 2 खण्ड 42·

ऋग्वेद ब्राह्मन्स, अनु0 ए0बी0कीथ, खण्ड 25 हर्वड ओरियन्टल सीरीज, सं0 सी0आर0 लानमान, हर्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1920

आपस्तंब श्रौतसूत्र, सं0 रिचर्ड गार्वे, 3 खण्ड कलकत्ता 1882-1902, अनु0 डब्ल्यू0 कालेंड, 3 खण्ड, आम्सटर्डम 1921-28

कात्यायन श्रौत सूत्र, कर्काचार्य टीका सहित, संपा0 मदनमोहन पाठक, बनारस, 1904·

शतपथ ब्राह्मण, सं0 ए0 वेबर, 1855

शतपथ ब्राह्मण, अनु0 जूलियस ऐगेलिंग, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड 12, 26, 41 तथा 44

तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायणभाष्य सहित, आनन्द आश्रम प्रेस पूना, 1898,

उपनिषद्स अनु0 एस0 मैक्समुलर खण्ड 1 तथा 15, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट,

द थर्टीन प्रिन्सपल उपनिसद्स, अनु आर0ई0 ह्यूम, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन 1921

बृहदारण्यक उपनिषद्, शंकर भाष्य सहित, अनु0 स्वामी माधवानन्द, अल्मोड़ा, 1950·

बौधायन गृह्य सूत्र, संपा0आर0 शामशास्त्री मैसूर 1927

धर्मशास्त्र साहित्य:

धर्मसूत्राज,अनु0 बूलर, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट खण्ड 2 तथा 14 आक्सफोर्ड1879-82

"आपस्तंब सूत्र" संपा0 जी0बूलर, बम्बई 1932·

"गौतमधर्म सूत्र" सं0 ए0एस0 स्टेंजलर, लन्दन 1876, मस्करिन टीका सहित, संपा0 एच0श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1917

बौधायन धर्मसूत्र संपा0 ई0 हुल्ट्स, लाइपजिग, 1884

मानवधर्मशास्त्र, छः टीकाओं सहित, संपा0 वी0एन0 माण्डलिक, बम्बई, 1886; अनु0 जी0बूलर, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट 25, आक्सफोर्ड, 1886

"मानव धर्मशास्त्र"आर "कोड आफ मनु" जूलियस जॉली लन्दन, 1887

मनुसंहिता आर इन्स्टीच्यूट्स आफ मनु, संपा0 गंगाधर कविरत्न, बहरामपुर, 1882·

मनुस्मृति, कुल्लूक की मन्वर्थमुक्तावली टीका सहित संपा० एन०आर० आचार्य, निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1946

मेधातिथि का मनुभाष्य, संपा० जी०एन० झा, 2 खण्ड इलाहाबाद 1932-39, अनु० 5 खण्ड कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1921-28

मनुस्मृति, संपा० हाग्घटन, अनु० विलियम जोन्स लन्दन 1869

मनुस्मृति, "द आर्डिनेन्सेस आफ मनु," बर्नेल की प्रस्तावना सहित, संपा० ई० डब्ल्यू० हाप्किंस, लन्दन 1884

मनुस्मृति, अनु० जे० मुरडॉक: लाज आफ मनु, लन्दन तथा मद्रास 1898·

मनुस्मृति, जे०एम० मेक्फी, मद्रास 1898

मनुस्मृति, नौटीकाओं सहित, संपा० जे०एच० दवे, भारतीय विद्याभवन सीरीज बम्बई 1981-82·

नारद स्मृति, असहाय टीका सहित, संपा० जे० जॉली, कलकत्ता 1885, अनु० सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट खण्ड 33, आक्सफोर्ड 1889

बृहस्पति स्मृति, संपा० के०बी० रंगस्वामी आय्यंगार बड़ौदा 1941, अनु० जे० जॉली, आक्सफोर्ड 1889·

"याज्ञवल्क्य" वीरमित्रोदय और मिताक्षरा सहित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1930

विष्णुस्मृति या वैष्णव धर्मशास्त्र (नन्द पण्डित की टीका के उद्धरण सहित) संपा० जे० जॉली 1881, अनु० आक्सफोर्ड, 1880·

"वशिष्ठ धर्मशास्त्र" संपा० ए०ए० फ्यूरर, बम्बई 1916

"कात्यायन स्मृति ऑव व्यवहार", अनु0 पी0वी0 काणे
बम्बई {टिप्पणी तथा भूमिका सहित}, 1933.

पाराशर स्मृति, संपा0सी0 तारकालंकार, कलकत्ता, 1890-99, माधव टीका सहित, संपा0 वी0एस0 इस्लाम्पुर्कर 1893-1919; अंग्रेजी अनुवाद, के0भट्टाचार्य कलकत्ता 1887.

धर्मशास्त्र-संग्रह, जीवानन्द विद्यासागर , 2 खण्ड, कलकत्ता, 1816

"कृत्यकल्पतरु" आफ लक्ष्मीधर" संपा0 वी0के0 रंगस्वामी आयंगर, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज बड़ौदा, 1941-53.

"राजधर्म-कौस्तुभ ऑफ अनन्तदेव" संपा0 कृष्णस्मृतितीर्थ, गा0ओ0 सिरीज, बड़ौदा 1935.

"राजनीतिरत्नाकर" संपा0 के0पी0 जायसवाल, पटना 1936.

"स्मृतिचन्द्रिका आफ देवण्णभट्ट" संपा0 एल0 श्रीनिवासाचार्य, मैसूर 1914-21, जे0आर0 घरपुरे, बम्बई 1919.

बीर-मित्रोदय आफ मित्र-मिश्र, संपा0 वी0 पी0 भण्डारी, चौखम्भा, वाराणसी 1932-37 अंग्रेजी अनुवाद, जी0सी0 सरकारशास्त्री, क . कलकत्ता, 1879.

व्यवहार मयूख ऑफ नीलकण्ठ, संपा0 पी0वी0 काणे, बम्बई, 1926

याज्ञवल्क्य स्मृति संपा0 तथा अंग्रेजी अनु0, ए0एफ0 स्टेंजलर बर्लिन। लन्दन, 1849, अंग्रेजी अनु0, वी0एन0माण्डलिक, बम्बई 1880.

याज्ञवल्क्यस्मृति, अपरार्क टीका सहित, संपा0 हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम पूना 1903-4; विज्ञानेश्वर टीका सहित, संपा0, जे0आर0 घरपुरे, बम्बई, 1914; विश्वरूपटीका सहित, संपा0 टी0 गणपतिशास्त्री त्रिवेन्द्रम् 1922-24

अर्थशास्त्र तथा नीतिपरम्परा के ग्रन्थ

अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य, संपा0 आर0 शामशास्त्री,
मैसूर, सप्तम् संस्करण 1961; टी0 गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् 1924-25, आर0
पी0 कांगले, बम्बई, 1960, अंग्रेजी अनु0 1963·
नीतिसार ऑफ कामन्दक, संपा0 टी0 गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, 1912·
नीतिवाक्यामृतम् ऑफ सोमदेवसूरि, ग्रन्थमाला, बम्बई 1890-संपा0 पन्नालाल
सोनी, मानिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई 1921·
शुक्रनीतिसार, कलकत्ता 1882, अंग्रेजी अनु0 बी0के0 सरकार, पाणिनि
कार्यालय, इलाहाबाद 1914·
"बार्हस्पत्य सूत्रम्" (अर्थशास्त्र) संपा0 एफ0 डब्ल्यू0 थामस, पंजाब संस्कृत सिरीज,
लाहौर, 1922

महाकाव्य तथा पुराण:

महाभारत (बम्बई संस्करण, नीलकण्ठ टीका सहित) संपा0 आर0 किंजवाडेकर,
पूना 1929-33·
कलकत्ता संस्करण, संपा0 एन0 शिरोमणि तथा अन्य, बि0इ0 सिरीज,
कलकत्ता 1834-39; वी0एस0 सुकथंकर, पूना, 1927-66, अंग्रेजी अनु0, एम0एन0
दत्त, कलकत्ता 1895-1905; हिन्दी अनु0, गीता प्रेस गोरखपुर, 1968·
शान्ति पर्व, चित्रशाला प्रेस, पूना 1932·
आलोचनात्मक समीक्षित संस्करण, भण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, पूना, 1933

रामायण-

निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1911-12; अंग्रेजी अनु0, एम0एन0 दत्त, कलकत्ता 1892-94.

टी0एच0 ग्रिफिथ, बनारस, 1915

हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस गोरखपुर 1967.

पुराण अग्निपुराण, आनन्दाश्रम पूना 1900, अंग्रेजी अनुवाद, एम0एन0 दत्त कलकत्ता 1903

भागवत पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर 1953, निर्णय सागर बम्बई 1910

ब्रह्माण्ड पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई 1913.

भागवत पुराण, कुम्भकोणम्, 1916.

कूर्म पुराण, बि0इ0, कलकत्ता, 1890

"मारकण्डेय पुराण" संपा0 के0एम0 बनर्जी, कलकत्ता 1862, अंग्रेजी अनु0 एफ0ई0 पार्जीटर, कलकत्ता 1904.

वायु पुराण, संपा0 रा0ला0 मित्र, 2 खण्ड कलकत्ता 1880

विष्णु पुराण, गीताप्रेस संस्करण गोरखपुर, अंग्रेजी अनु0 एच0एच0 विल्सन, 5 खण्ड लन्दन 1864-70.

ब्रह्मवैवर्त पुराण, आनन्दाश्रम, पूना 1935; अंग्रेजी अनु0 आर0एन0सेन 2 खण्ड , सेक्रेड बुक्स आफ द हिन्दूज, इलाहाबाद, 1920-22.

मत्स्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, आनन्दाश्रम पूना 1907, अंग्रेजी 'एक तालुकेदार द्वारा' इलाहाबाद, 1916-17.

वामनपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1929, समीक्षित संस्करण, ए0एस0 गुप्त, काशीराज ट्रस्ट वाराणसी, 1967.

अन्य ग्रन्थ

शूद्रक कृत मृच्छकटिक, संपा0 तथा अनुवाद, आर0 डी0 कर्मनार

पूना 1937, अनु0 आर0पी0 ओलिवर, इलिनोइस, 1938

बाण कृत कादम्बरी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1948, अंग्रेजी अनु0 सी0एम0 रिडिंग, लन्दन 1896

दीघनिकाय, संपा0 टी0 डब्ल्यू0 रिज डेविड्स और जे0ई0 कार्पेन्टर, 3 खण्ड, पालीटेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, अंग्रेजी अनु0 डायलाग्स आफ बुद्ध, रिजडेविड्स, 1899-1921, हिन्दी अनु0 राहुल सांकृत्यायन और जगदीश कश्यप, बनारस 1936.

"अमरकोश" संपा0 एडी0 शर्मा तथा एन0जी0सरदेसाई पूना 1941.

"वात्स्यायन कामसूत्र," (यशोधर की जयमंगला टीका सहित) संपा0 गोस्वामी दामोदर शास्त्री, बनारस, 1929.

"समरांगणसूत्रधार", 2 खण्ड संपा0 टी0 गणपति शास्त्री, बड़ौदा, 1924-25.

रघुवंश (कालिदास कृत), संपा0 काशीनाथ पांडुरंग परब, बम्बई 1882

शुक्रनीतिसार, कलकत्ता 1882, अनु0 बी0के0 सरकार, पाणिनि कार्यालय, इलाहाबाद 1914.

लेख तथा मुद्रायें

फ्लीट, जे0एफ0, इन्स्क्रिप्शंस आफ द अर्ली गुप्ता किंग्स, कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इन्डिकेरम्, III, लन्दन, 1885.

सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, I, कलकत्ता, 1942; इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लासरी, दिल्ली, 1966.
उपाध्याय वी०एस०, ए स्टडी आफ एन्शेन्ट इण्डियनइन्स्क्रप्शन्स, मोतीलाल बनारसीदास , वाराणसी, 1961.
पाण्डेय, राजबली, हिस्टारिकल एण्ड लिटररी इन्स्क्रप्शन्स, चौखम्भा, वाराणसी, 1962.
हूल्श, ई०, कार्पस इन्स्क्रपशनम् इन्डिकेरम् , I, लन्दन, 1925, स्टेनकोनो, II, भाग I, 1929.
एलन, जे०, कैटलाग ऑफ द क्वायन्स ऑफ एन्शेन्ट इन्डिया, लन्दन, 1936.
अल्टेकर, ए०एस०, कैटलाग आफ द गुप्ता गोल्ड क्वायन्स इन बयाना, बम्बई, 1954.
कनिंघम, क्वायन्स आफ एन्शेन्ट इण्डिया, बनारस 1963
गुप्त परमेश्वरी लाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, 2 खण्ड, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1992.

विदेशी विवरण

अरस्तू, "पालिटिक्स" अनु० बी० जावेट, आक्सफोर्ड, 1905
मेक्रिन्डल, जे०डब्ल्यू०, एन्शेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, 1926.
"द रिपब्लिक" अनु० बी० जावेट, न्यूयार्क 1946

गाइल्स, एच0ए0 "द टेवेल्स ऑफ फाहियान या रेकार्ड आफ बुद्धिस्ट किंग्स
(अनुदित) कैम्ब्रीज, 1923·

लेग्गे, जे0 "ए रेकार्ड आफ बुद्धिस्ट किंगडम्स"
(फाहियान का यात्रा वर्णन) अनुदित, आक्सफोर्ड, 1886·

वाटर्स, टी0, आन युवानच्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया" संपा0 रिजडेविड्स
तथा बुशेल, 2 खण्ड लन्दन 1904-5·

बील, एस0, ट्रेवल्स आफ फाहियान एण्ड सुंग-युन" (अनु0) लन्दन, 1869,
लाइफ आफ हुएनसांग, लन्दन, 1888·

साचो, ई0सी0 अलबरूनीज इण्डिया, 2 खण्ड, लन्दन, 1910·

सहायक ग्रन्थ

अल्तेकर, ए0एस0, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन ऐंशेन्ट इण्डिया, बनारस 1949,
सोर्सेज ऑफ हिन्दूधर्म, शोलापुर, 1952·

अग्रवाल, वी0एस0, मारकण्डेय पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी
एकेडेमी, इलाहाबाद·
मत्स्यपुराण, ए स्टडी, वाराणसी, 1963; वामन पुराण, ए स्टडी 1964

आयंगर, के0वी0आर0, सम एस्पेक्ट्स आफ ऐन्शेन्ट इण्डियन पालिटी, मद्रास
1935, राजधर्म, अडयार, 1941·

आयंगर, एस0कृष्णस्वामी, इवेल्यूशन आफ हिन्दू एडमिनिस्ट्रेशन इन्स्टीच्यूशन्स
इन साउथ इण्डिया, मद्रास 1931·

अलटेकर? अंगारिया, जे0जे0, द नेचर एण्ड ग्राउन्ड्स आफ पालिटिकल ओब्लिगेशन इन द हिन्दू स्टेट, बम्बई, 1935.

अरबिन्दो, श्री, द स्पीरिट एण्ड फार्म ऑफ इण्डियन पालिटी, कलकत्ता, 1947. फाउन्डेशन आफ इण्डियन कल्चर, न्यूयार्क, 1953.

बन्दोपाध्याय, एन0सी0, डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटिकल थिअरीज, भाग-1, कलकत्ता 1927.

कौटिल्य, कलकत्ता, 1927; इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्शेन्ट इण्डिया; गवर्नमेन्टल आयडियल्स आफ एन्शेन्ट इण्डिया, द कलकत्ता रिव्यू, 1922

बनर्जी, पी0, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शेन्ट इण्डिया, लन्दन, 1916.

बसु, पी0सी0, इन्डो आर्यन पालिटी, इलाहाबाद, 1919.

बसाक, आर0जी0, सम एस्पेक्ट ऑफ कौटिल्यन पालिटिकल थिंकिंग, बर्दवान 1967

बाशम, ए0एल0, द वन्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1961

भण्डारकर, डी0आर0, सम एस्पेक्ट्स ऑफ एन्शेन्ट हिन्दू पालिटी, बनारस 1929, मद्रास, 1940.

भार्गव, पी0एल0, इण्डिया इन द वेदिक एज, लखनऊ, 1956.

ब्लंशली, थिअरी आँफ स्टेट, आक्सफोर्ड, 1892

कार्लाइल, आर0 डब्ल्यू एण्ड ए0जे0, ए हिस्ट्री आफ मेडिवल पालिटिकल थिअरी, 3 खण्ड, लन्दन, 1915.

चक्रवर्ती, पी0सी0, द आर्ट आफ वार इन एन्शेन्ट इण्डिया ढ़ाका 1941

चौधरी, आर0के0, स्टडीज इन एन्शेन्ट इण्डियन ला एण्ड जस्टिस, पटना, 1953.

डेरेट, जे0 डी0 एम0, हिन्दू ला पास्ट एण्ड प्रजेन्ट, कलकत्ता, 1957, रेलीजन,ला, एण्ड स्टेट इन इण्डिया, लन्दन, 1968.

धर्मा, पी0सी0, द रामायण पालिटी, मद्रास, 1941.

ड्रेकमीयर, चार्ल्स, किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इण्डिया, स्टैन्फोर्ड, 1962.

दत्त, बी0एन0, स्टडीज इन इण्डियन सोशल पालिटी, कलकत्ता, 1944.

दीक्षितार, वी0आर0आर0, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीच्यूशन्स, मद्रास, 1929, द मौर्यन पालिटी, 1932.

फिग्गिस, जे0 एन0 डिवाइन राइट आफ किंग्स, लन्दन, 1914.

गार्नर जे0डब्ल्यू0 पालिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेन्ट, कलकत्ता 1955.

गेटल, आर0जी0, पालिटिकल साइन्स, कलकत्ता, 1954.

गोपाल, एल0, द इकोनामिक लाइफ आफ इण्डिया, वाराणसी, 1965.

घोषाल, यू0एन0, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आयडियाज, बम्बई, 1959.

गुप्त, आर0के0, पालिटिकल थाट इन द स्मृति लिटरेचर, इलाहाबाद, 1961

गांगुली, एन0सी0, इण्डियन पालिटिकल फिलासफी, कलकत्ता, 1939.

हाजरा, आर0सी0, स्टडीज इन द पुराणिक रेकार्ड्स आफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका, 1940, स्टडीज इन द उपपुराणस भाग-I तथा II

कलकत्ता, 1958, 1963.

जायसवाल, के0पी0, हिन्दू पालिटी, कलकत्ता, 1924, बंगलोर, 1955.

मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930.

जाली, जे0, आउटलाइन हिस्ट्री आफ हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम्स, कलकत्ता, 1928

काणे, पी0वी0, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, 5 खण्ड, पूना 1962-75.

{हिन्दी} अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, लखनऊ.

कोशाम्बी, डी0डी0, एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956,

द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशनआफ एन्शेन्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल

आउटलाइन, लन्दन, 1965.

कोनो, स्टेन, कौटिल्य स्टडी, ओस्लो, 1945.

ला, एन0एन0, एस्पेक्ट्स आफ एन्शेन्ट इण्डियन पालिटी, आक्सफोर्ड, 1921.

इन्टर स्टेट रिलेसन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया, कलकत्ता; 1920

लिंगाट, आर0, द क्लासिकल ला ऑफ इण्डिया, अनु0 जे0डी0 एम0 डेरेट,

नई दिल्ली, 1973.

मजूमदार, आर0सी0, कारपोरेट लाईफ इन एन्शेन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922.

संपा0 हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, खण्ड 1-4, भारतीय

विद्याभवन, बम्बई, 1951-62.

मिश्र, बी0बी0, पालिटी इन द अग्निपुराण, कलकत्ता, 1965.

मैती, एस0के0, इकोनामिक लाईफ आफ नार्दर्न इण्डिया इन द गुप्त

पीरियड; कलकत्ता, 1957.

मुकर्जी, आर0के0 हिन्दू सिविलाइजेसन्स, लन्दन, 1936, लोकल गवर्नमेन्ट इन

एन्शेन्ट इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1620.

मोर्ले, वी0, नोट्स आन पालिटिक्स एण्ड हिस्ट्री, लन्दन, 1914.

मित्तल, एस0एन0, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारायें,
रस्तोगी, पब्लिकेशन, मेरठ

नेगी, जे0एस0 सम इन्डोलाजिकल स्टडीज, खण्ड 1, इलाहाबाद, 1966.

नियोगी, पुष्पा, कन्ट्रीब्यूशन्स टू द इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न
इण्डिया, कलकत्ता, 1962.

ओमप्रकाश, पालिटिकल आयडिआज इन पुराणाज्
पंचनद् पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद 1977.

पाण्डे, जी0सी0, स्टडीज इन द ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1957

पाण्डेय, आर0बी0, भारतीय नीति का इतिहास, बिहार राष्ट्र भाषा
परिषद्, 1965.

पाण्डेय, श्यामलाल, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, उ0प्र0
हिन्दी संस्थान लखनऊ 1964, 1989.
मनु का राजधर्म, लखनऊ.

पार्जीटर, एफ0 ई0, इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन्स, आक्सफोर्ड, 1922.

प्रसाद, बेनी, द स्टेट इन एन्शेन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1928
द थिअरी आफ गवर्नमेन्ट इन एन्शेन्ट इण्डिया, 1968.

प्रताप गिरि, आर0, प्राब्लेम्स, आफ इण्डियन पालिटी, बम्बई, 1935.

प्राणनाथ, इकोनामिक कंडीशन्स आफ एन्शेन्ट इण्डिया, लन्दन, 1929.

पुसालकर, ए0डी0, स्टडीज इन द एपिक्स एण्ड पुराणाज, बम्बई, 1955.

राधाकृष्णनन्, एस0, द हिन्दू व्यू आफ लाइफ, न्यूयार्क, 1948
रेलिजन एण्ड सोसायटी, लन्दन, 1947.

रामास्वामी, टी0एन0, एशेन्सियल्स ऑफ इण्डियन स्टेटक्राफ्ट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962.

रैप्सन, ई0 जे0, कैम्ब्रीज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग 1, दिल्ली, 1962.

रायचौधरी, एच0सी0, स्टडीज इन इण्डियन एन्टीक्वीटीज, कलकत्ता, 1958.

पालिटिक्ल हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1938.

रिज डेविड्स, टी0डब्ल्यू0, बुद्धिस्ट इण्डिया, न्यूयार्क 1903

राय, बी0पी0, पालिटिकल आयडीआज एण्ड इन्स्टीच्यूशन्स इन महाभारत, कलकत्ता, 1975.

राय, एस0एन0, पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968.

राय, यू0एन0, स्टडीज इन एन्शेन्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर, इलाहाबाद, 1969.

सेवाइन, जी0, हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थिअरी, लन्दन, 1973.

सरकार, बी0के0, द पालिटिकल इन्स्टीच्यूशन्स एण्ड थिअरीज आफ द हिन्दूज, कलकत्ता, 1939.

सालेटोर, बी0ए0, एन्शेन्ट इण्डियन पालिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीच्यूशन्स, न्यूयार्क, 1963.

सेन, ए0के0, स्टडीज इन हिन्दू पालिटिकल थाट, कलकत्ता, 1926.

शामशास्त्री, आर0, इबोल्यूशन आफ इण्डियन पालिटी, कलकत्ता, 1920.

शर्मा, आर0एस0, एस्पेक्ट्स ऑफ पालिटिकल आयडियाज एण्ड इन्स्टीच्यूशन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1959, हिन्दी अनुवाद, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्था में राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1992, इण्डियन फ्युडलिज्म कलकत्ता, 1965, लाइट आन अर्लीइण्डियन सोसायटी एण्ड इकोनामी, बम्बई, 1966.

शास्त्री, जे०एल०, पालिटिकल थाट इन द पुराणाज्, लाहौर, 1944.

सिन्हा, एच०एन०, सावरेन्टी इन एन्शेन्ट इण्डियन पालिटी, लन्दन, 1938.

सिंह, शिवाजी, इवोल्यूशन आफ स्मृति लिटरेचर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1972.

स्पेल मैन, जे० डब्ल्यू०, पालिटिकल थिअरीज इन एन्शेन्ट इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1964.

थामस, पी० एपिक्स, मिथ्स एण्ड लिजेन्ड्स आफ इण्डिया, बम्बई।

त्रिपाठी, आर०पी०, स्टडीज इन पालिटिकल एण्ड सोसिओइकोनामिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया, इलाहाबाद, 1981.

त्रिवेदी, सत्यदेव, प्राचीन भारत में गुप्तचर सेवा -दिल्ली, 1985

वर्मा, वी०पी०, स्टडीज इन हिन्दू पालिटिकल थाट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स्, मोतीलाल बनारसीदास, 1954, 1959, 1974.

विरजी, ए०जे०, एन्शेन्ट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, बम्बई, 1955.

विन्टरनित्स, एम०, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, कलकत्ता, 1950.

यादव, बी०एन०एस०, सोसायटी एण्ड कल्चर ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्फ्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973.

पत्र पत्रिकायें

एनल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना

भारतीय विद्या

बुलेटिन आफ द स्कूल ऑफ ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज.

कलकत्ता ओरियन्टल सिरीज
एपिग्राफिया इण्डिका
इण्डियन एन्टीक्वेरी

इण्डियन कल्चर

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली

जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री

जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट

जर्नल ऑफ ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट

जर्नल ऑफ यू0पी0 हिस्टारिकल सोसायटी माडर्न रिव्यू

अवर हेरीटेज

पुराण

यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज

पंचाल

प्रोसिडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस

शब्दकोश तथा स्मृति ग्रन्थ

आप्टे, वी0एस0, द प्रैक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, 3 खण्ड, पूना 1957-59.
द स्टूडेन्ट्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, वाराणसी 1963 संस्कृत-हिन्दी कोश, वाराणसी, 1966.

मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, वाराणसी, 1976 (पुनर्मुद्रित)

के0सी0चट्टोपाध्याय मेमोरियल वल्यूम, प्राचीन इतिहास विभाग इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, 1975

उमेश मिश्र कमेमोरेशन वल्यूम, गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट, 1970.